CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधि-साधना

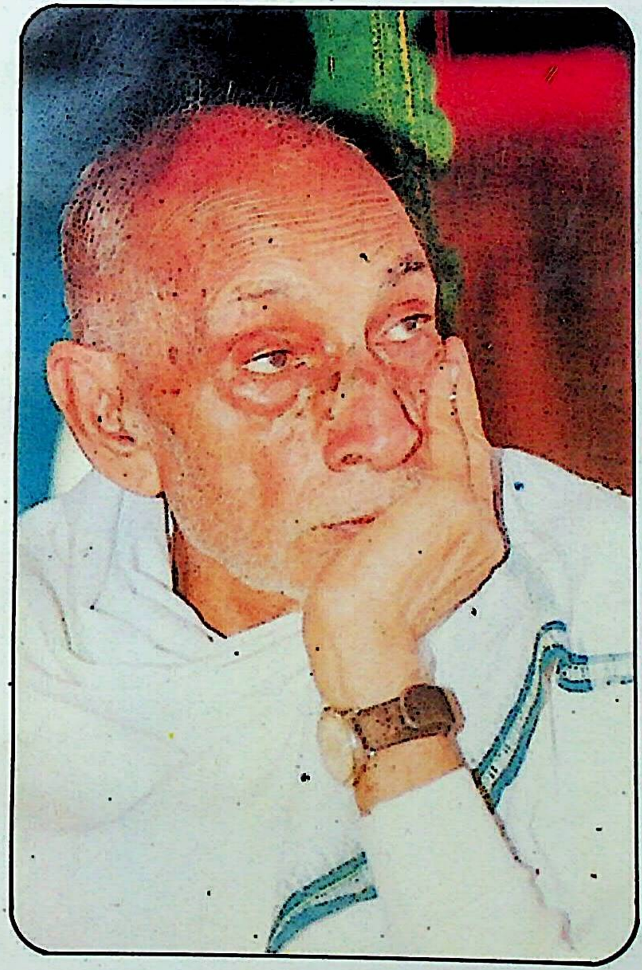

हमारे पूज्य प्रेरणा-पुरुष
स्व. पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11.4

पण्डित जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री की

समाधि-साधना

प्रथम पुण्यतिथि

क्वांर शुक्ल चतुर्दशी संवत २०५३

सम्पादक

श्री नीरज जैन

डॉ. कमलेशकुमार जैन

4537
3-8-99

परिजन और परिवार द्वारा विनम्र भेंट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक

अमरचन्द जैन
मेडीक्योर लेवोटरीज
प्रेमनगर, पो.बा.नं. 51
सतना (म.प्र.)
दूरभाष : (07672)--22175

समय

प्रथम पुण्यतिथि 7.10.96
क्वांर शुक्ला चुतर्दशी, संवत २०५३

मुद्रक

सिंघई आफसेट
६६८ -- सराफा
जबलपुर (म.प्र.)
दूरभाष -- (0761) 341006

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

पण्डित जी की 3½ महीने की इस समाधि–साधना में बहुत लोग उनके दर्शनार्थ कुण्डलपुर आये। अनेक जनों ने उनकी अनेक मुद्राओं को अपने कैमरे में अंकित किया और अनेक जनों ने उनके विषय में अपनी श्रद्धाभावनायें मौखिक या लिखित रूप में व्यक्त की। यह सारी सामग्री इतनी पुष्कल मात्रा में है कि उसे सहेजना–समेटना भी हमारे लिये सम्भव नहीं है। उसमें से शायद शतांश भी इस छोटी सी पुस्तिका में समाहित नहीं किया जा सका। किन्तु यह निश्चित है कि उस स्मरणीय सामग्री से हमारा परिवार गौरवान्वित हुआ है और हमने एक विशेष प्रकार की आश्वस्ति का अनुभव किया है। इसलिये आज उन सबके प्रति, जिनका कोई भी योगदान इस पुस्तिका में सम्मिलित है, हम अपने पूरे परिवार और परिकर की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। उससे अधिक कृतज्ञता हम उन सबके प्रति व्यक्त करना चाहते हैं, जिनकी सामग्री का न तो हम कोई प्रस्तुतिकरण कर पाये है और न हम उन्हें व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद तक दे पाये हैं।

श्री क्षेत्र कुण्डलपुर की प्रबन्ध समिति का उदारतापूर्ण सहयोग यदि प्राप्त न होता तो यह महान् अनुष्ठान इतनी गरिमा के साथ कभी सम्पन्न न हो पाता इसलिये वहाँ के पदाधिकारियों, सदस्यों और सभी सहयोगी कार्यकर्त्ताओं तथा कर्मचारियों के प्रति आभार व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है।

पूज्य पिताजी की सुदीर्घ जीवन यात्रा को सातवें बेटे ने अपनी अध्यात्म की आँख से देखा और विश्लेषण स्वयं की मानसिकता एवम् धारणायुक्त प्रस्तुति के लिए आभार।

इस पुस्तक के प्रकाशन में कमलकुमार जी बाकलीवाल एवम् श्री सिंघई आनन्द जैन का अत्यन्त सराहनीय सहयोग रहा है, उनके प्रति आभार व्यक्त करते है।

अमरचंद जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

श्रद्धेय पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री एक ऐसे लब्ध प्रतिष्ठ मनीषी थे, जिनके परिचय की कम से कम दिगम्बर जैन समाज में आवश्यकता नहीं है। भारतवर्षीय दि. जैन संघ, अ.भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, श्री वर्णी दिग. जैन गुरुकुल जबलपुर, पार्श्वनाथ दिग. जैन गुरुकुल - खुरई, भा.दि.जैन परवार सभा और श्री क्षेत्र कुण्डलपुर तथा अनेक शिक्षण संस्थाओं, गुरुकुलों आदि से जुड़े हुये स्व. पण्डित जी अपने आप में स्वयं भी एक महान् संस्था थे। देश के किसी भी सभा-सम्मेलन, उत्सव या अधिवेशन में उनकी उपस्थिति मात्र से एक गरिमा आ जाती थी। उनकी वाणी और वक्तृत्व शैली तो प्रभावकारी थी ही, किन्तु उसके पीछे उनका अगाध अगाम ज्ञान, विस्तृत सामाजिक अनुभव और गहन चिन्तन सदैव विद्यमान रहता था।

हम सबको आशा थी कि उनके शताब्दी महोत्सव पर उनका .चरणस्पर्श करने का सौभाग्य प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा नहीं हो सका। श्री क्षेत्र कुण्डलपुर में इस युग के **महान् दिगम्बर आचार्य पूज्य विद्यासागर जी** के ससंघ चरण सान्निध्य में 7 अक्टूबर 1995 को उन्होंने समाधिमरण प्राप्त किया। उनकी प्रथम पुण्यतिथि के अवसर पर थोड़े से शब्द-प्रसून चढ़ाकर उनकी स्मृति को प्रणाम करने का हमारा प्रयास इस **"समाधि-साधना"** के रूप में प्रस्तुत करने का हमें अवसर मिला है। यह प्रयत्न किसी बड़े स्तर पर हमने नहीं किया है। मात्र एक पारिवारिक श्रद्धाञ्जलि-संग्रह के रूप में इसे देखना होगा। यह इसलिये भी आवश्यक है कि दो-तीन आलेखों को छोड़कर इस संकलन की पूरी सामग्री श्रद्धेय पण्डितज़ी के पुत्रों और मानसपुत्रों ने ही प्रस्तुत की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करके जीवन का अन्तिम समय उदासीन आश्रम में आराधनापूर्वक व्यतीत करना शायद इस परिवार की परम्परा बन गई है। ब्र. बाबा गोकुलप्रसाद जी ने अपनी लगन से लगभग 80 वर्ष पूर्व दो उदासीन आश्रमों की स्थापना की थी। पहला कुण्डलपुर में और दूसरा इन्दौर में। बड़े गौरव की बात है कि ये दोनों आश्रम समाज के सहयोग से भली-भाँति चल रहे हैं और अपनी शताब्दी की ओर बढ़ रहे है। बाबा गोकुलप्रसाद जी एक सन्तोषी वृत्ति के अहिंसा और सदाचार के पक्षधर साधक थे। उनकी अहिंसा निष्ठा के परिचय के लिये एक ही घटना लिखना पर्याप्त होगा कि उन्होंने उस राजाशाही जमाने में शताधिक सन्तों और विद्वान के अभिमत एकत्र करके, मैहर के शारदादेवी मन्दिर में होने वाली पशुबली को बन्द कराने का शाही फरमान जारी करवाया था।

पण्डित जगन्मोहनलाल जी इन सारे सन्दर्भों में अपने पिता के सुयोग्य पुत्र साबित हुये हैं। समाजोत्थान के लिये उन्होंने जो कार्य किये उनका विधिवत् लेखा-जोखा आज तक कहीं एकत्र नहीं किया गया है। पण्डित जी ने भी अनेक वर्षों तक अपनी साधना कुण्डलपुर के उसी आश्रम में की। एक मौन साधक ब्रह्मचारी परसराम थे, जिन्होंने अपने उदासीन जीवन के 68 वर्ष इन्दौर के उदासीन आश्रम में बिताये, किन्तु समाधिकाल में समाधि सम्राट् की चरण-शरण पाने के लिये वे कुण्डलपुर आये। उनका और पण्डित जी का समाधिमरण एक सप्ताह के अन्तराल से आश्रम की इसी पुण्य भूमि पर हुआ।

हम इस सन्दर्भ में दो कामनाएँ करना चाहते हैं। पहली यह कि गृहविरत होकर समाधिमरण पूर्वक देह त्याग की यह परम्परा बाबा गोकुलप्रसाद जी के वंश में प्रवर्तित रहे। ज्ञान और व्रताचरण अब इस परिवार के पैतृक धरोहर हो गये हैं। हमारी दूसरी कामना यह है कि श्री क्षेत्र कुण्डलपुर अपने बड़े बाबा के लिये तो विख्यात था ही, किन्तु छोटे बाबा की कृपा से अब वह **"समाधि साधना"** के लिये भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विख्यात होता जा रहा है। ऐसे पुण्यस्थलों पर जाकर निराकुल साधना करना प्रत्येक श्रावक का अधिकार है और ऐसे सभी श्रावकों के लिये निवास और शुद्ध भोजन की व्यवस्था करना क्षेत्रों की प्रबन्ध समितियों का महत्वपूर्ण दायित्व है। यह आश्रम इसी प्रकार जीवन्त बना रहे और यहाँ पहुँचने वाले साधकों के लिये उसके द्वार सदा सम्मान पूर्वक खुले रहें। आशा है क्षेत्र के पदाधिकारी हमारी इस कामना को दृष्टि में रखेंगे।

श्री अमरचन्द्र जी और उनका परिवार इस प्रकाशन का व्यय उठाकर कोई ऐसा काम नहीं कर रहा है जिसके लिये उन्हें धन्यवाद दिया जाये। यह तो उनका सहज दायित्व था।

अन्तिम बात जो हम कहना चाहते है वह यह कि पण्डितजी के व्यक्तित्व की छाप बहुत लोगों के मन पर है किन्तु वह एक ऐसा प्रभाव है जो कभी, किसी के द्वारा, किसी को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता है। किन्तु पण्डितजी का कृतित्व, विशेषकर उनका साहित्य, अवश्य एक ऐसी निधि है, जिसे आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाया जा सकता है। यह अतिरिक्त हर्ष की बात होती, समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय के सम्पूर्ण प्रवचनों के रूप में पण्डितजी की वाणी मेग्नेटिक टेप पर भी सुरक्षित है उसे कैसिट्स के रूप में तैयार करके प्रचारित, प्रसारित और सुरक्षित करते चलना उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। हमें विश्वास है कि पण्डितजी के पुत्रों का ध्यान इस ओर जायेगा और इस दिशा में योजनाबद्ध तरीके से कोई काम होगा।

इन्हीं अपेक्षाओं के साथ हम उस महान् आत्मा की स्मृति को पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

वीर शासन जयन्ती
वीर निर्वाण संवत् 2522
31.7.1996

नीरज जैन
डॉ. कमलेश कुमार जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सल्लेखना की साधना
और
समाधिमरण

- गृहस्थाश्रम में व्रती बना रहना कठिन है।
  —आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी.
- सल्लेखना : सारदर्शन, पारदर्शन, आत्मदर्शन।
  —श्री जिनेन्द्रवर्णी जी.
- कर्म की रेख पर मेख।
  —सिंघई जीवनकुमार, सागर.
- सल्लेखना प्राप्त करना दुर्लभ है।
  —श्री नीरज जैन, सतना.
- मरण महोत्सव।
  —श्री नीरज जैन, सतना.
- समाधिमरण : मोक्षमार्ग का पाथेय।
  —डॉ.कमलेशकुमार जैन, वाराणसी.
- सल्लेखना आत्मघात नहीं है।
  —डॉ.सुरेन्द्रकुमार जैन, बुरहानपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गृहस्थाश्रम में व्रती बना रहना कठिन है

❑ *आचार्यश्री विद्यासागर जी*

"श्री क्षेत्र कुण्डलपुर में 8 अक्टूबर 95 को पण्डित जी की श्रद्धांजलि सभा में पूज्य आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी का उद्बोधन"

राजा महाराजा होते हैं, वे अपने चक्र के माध्यम से शत्रुचक्र को समाप्त करके आ जाते हैं। अपने जीवन की कान्ति, वह भी एक शत्रु है। बल चक्र, जिसको मोह बोलते हैं। मोहरूपी शत्रु के कारण दुनियाँ भी आज तक हताश हो चुकी है। आत्मा को प्राप्त करने के लिए समाधितंत्र के द्वारा जिसने मोहरूपी शत्रु समाप्त किया है, वही मनुष्य जीवन के सार को प्राप्त हो जाता है। यह हम सुनते–पढ़ते आते हैं, किन्तु जीवन कुछ बिरले ही कृतार्थ कर पा जाते हैं।

आचार्य समन्तभद्र महाराज जी ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के अन्तिम प्रकरण में उल्लेख किया है कि वह तप का फल माना जाता है। तप ही जब ग्रहण करना मुश्किल हो जाता है, तप का फल तो और मुश्किल हो जाता है। सल्लेखना के अभाव में पूरी तपस्या उसकी बेकार मानी जाती है, जैसे 365 दिन परीक्षा के अभाव में।

अध्ययन तो करते चले गए, विद्यार्थी बहुत होशियार हैं, किन्तु वह विद्यार्थी परीक्षा आते ही कहता है–"मैं परीक्षा में नहीं बैठना चाहता।"

"पूछा यही जाता है"– क्यों नहीं बैठना चाहते हो ?"

अध्ययन तो काफी हुआ लेकिन स्वास्थ्य ठीक नहीं है।

इसकी पूरी बात मानने के लिए तैयार नहीं होते है। क्योंकि परीक्षा में ही उसका निखार, उसकी परीक्षा होने वाली है। उसी प्रकार प्राणांत समय पर व्यक्ति अपनी साधनां को परीक्षित करता है। जो शरीर से आत्मा पृथक् है, पृथक् है, ऐसा सुनता और श्रद्धान करता आया है और जिस समय वह समय आ जाता है उस समय यदि वह उसे नकारता है तो वह फैल माना जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

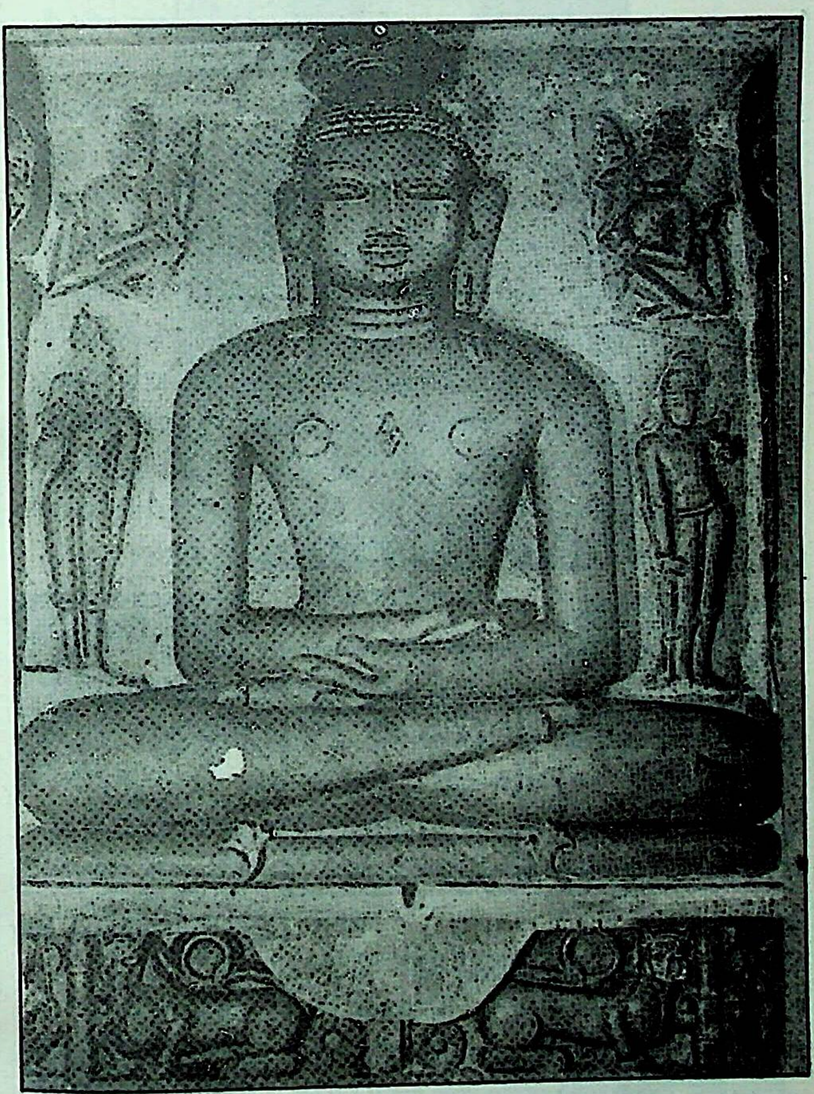

कुण्डलपुर के बड़े बाबा

जिनके सुमरण से छिन भर में, कट जाते कर्मों के दावा,
हमको भवसागर पार करें दे सन्मति, वीर, बड़े बाबा।

- छायाकार - नीरज जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

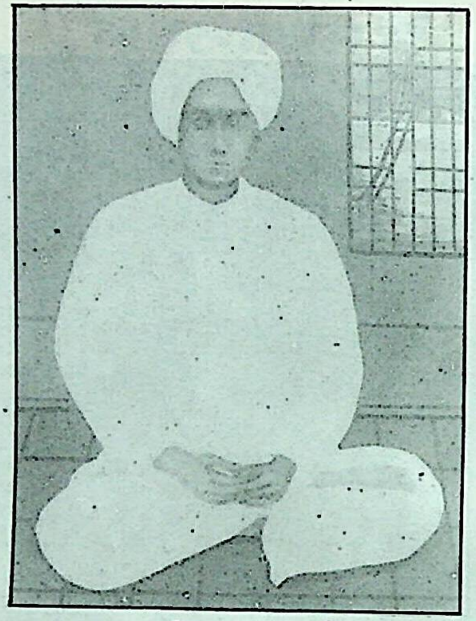

ब्र.गोकुलप्रसाद जी

अपने पिता के
ज्येष्ठ पुत्र पण्डित जगन्मोहनलाल जी

पण्डितजी की

पाँच पीढ़ी

ज्येष्ठ पुत्र अमरचन्द जैन

ज्येष्ठ पौत्र आमोदकुमार जैन

ज्येष्ठ प्रपोत्र अभिजीत जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वामी समन्तभद्र महाराज ने इसके लिए बहुत ही अच्छे ढंग से कहा है और उसके लिए उन्होंने तैयारी बहुत दिनों से पूर्ण करने के लिए कहा है। उसमें यदि सफलता नहीं मिलती है तो हम कह नहीं सकते कि हमारा अध्ययन ठीक है या नहीं। व्रती बन जाते हैं लोग, मोह को समाप्त करने के लिए, मोह के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए, किन्तु प्रायः करके देखा यह जाता है कि जीवनपर्यन्त व्रती बन जाते है, अन्त में शरीर/स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है। जहाँ कहीं भी अपनी शरण खोजने लग जाते हैं। चिकित्सा के बिना कार्य नहीं चलता है। इसलिए कहीं औषधालय और अस्पताल वगैरह में भर्ती भी हो जाते हैं, किन्तु व्रती लोग इस ढंग से व्रत-पालन करते हैं। कल शाम तक आपने देखा होगा कि पण्डित जी की अन्तिम स्थिति कैसी थी? वह 95 साल की उम्र वाले वयोवृद्ध होते हुए भी अपनी सप्तम प्रतिमा को सुरक्षित रखते हुए और निष्ठा के साथ शरीर का जो सम्बन्ध या सम्बन्ध विक्षेप के समय भी सावधानी के साथ पंच परमेष्ठी की आराधना करते हुए साहस के साथ पार्थिव शरीर को छोड़कर चले गये।

व्रतियों और विद्वानों में ये बहुत ही कम ऐसे अवसर प्राप्त होते हैं। क्योंकि विद्वत्ता अलग वस्तु होती है और संयम अलग वस्तु हुआ करती है। संयम का ही परिणाम है कि सरस्वती की आराधना/जिनवाणी की आराधना करते हुए अन्तिम समय में पंच नमस्कार मंत्र और पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए प्राणों को छोड़ा। आप लोगों को भी ठीक इसी प्रकार ज्ञान का अर्जन करते हुए अपने चारित्र पक्ष को पण्डित जी के समान पुष्ट बनाने का प्रयास करना चाहिए।

गृहस्थ आश्रम बहुत कठिन होता है। साधु बनना कथञ्चित् आसान है। गृहस्थ आश्रम में रहकर के गृहस्थी को पालन करते हुए व्रती बना रहना और आज के इस तूफान में भी साधना को कायम रखना, ये कम बात नहीं है। तो पण्डित जी का इतना बड़ा परिवार देखकर के हम सोचते हैं कि पण्डित जी किस ढंग से घर में रहते होंगे? क्योंकि शाखा-उपशाखाएँ, डाल के ऊपर डाल, पात के ऊपर पात, ऐसे लगे पहचान में नहीं आते। लेकिन फिर भी उन सबमें वे पण्डित जी रहते हुए अपने ध्रुव की ओर दृष्टि हमेशा बनाये रखे। इतनी लम्बी-चौड़ी उम्र पाने के उपरान्त मान लीजिए कि यदि वे घर से बाहर निकलते तो और अच्छा होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेकिन यह योग की बात है, वे बाहर नहीं आ पाये। बाहर आने की दृष्टि तो थी, लेकिन सागार से अनगार होना बहुत कठिन समझते थे। फिर भी भावना उनकी जैसी थी, उसमें उन्होंने सफलता अपनी सीमा के बाहर प्राप्त कर ली है, ऐसा हमारा अनुमान है। उनका शरीर यद्यपि कृश हो गया था, लेकिन भीतर की दृढ़ता उनकी कायम थी, काम कर रही थी। प्रायः करके बहुत देर होने के उपरान्त वह आस्था या निष्ठा या दृढ़ता कमजोर हुआ करती है। क्योंकि काय के ऊपर ही तो आधारित होते हैं। लेकिन फिर भी ज्ञान के साथ यह आराधना हमेशा–हमेशा हमारे लिए बल प्रदान करती है। उनके साहस को देखकर के आप लोगों का– क्योंकि शायद ही आप लोग 95 साल तक पहुँच पायेंगे, लेकिन पहुँच भी जाएँ तो भी आप व्रती बन करके पहुँच जायें। क्योंकि ज्ञान–ध्यान तो आप करते रहते हैं, लेकिन संयम के बिना यह मनुष्य जीवन चरितार्थ नहीं माना जाता है और शुद्ध आहार–पानी करते हुए यदि आप आत्म–साधना करते रहे तो जीवन में अवश्य ही आप लोगों के लिए भी समाधि--आराधना प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है और इसी भावना से आप लोगों को भी इसी प्रकार अन्तिम समय/अवसर प्राप्त हो और भगवान् की आराधना करते हुए आत्मा से भिन्न ये शरीर जब नष्ट होता है उस समय भी आपको आपका साहस प्राप्त हो, इसी भावना के साथ।

पण्डित जी को उत्तम पर्याय तो मिली है। आजकल मुक्ति तो है नहीं। अनगार को भी आज नहीं है। दूसरी बात सागार को मुक्ति नहीं है अनगार को भी आज नहीं है। यह अवश्य है कि जो सद्गति प्राप्त/पर्याय प्राप्त हो गई है, उस पर्याय के उपरान्त उन्हें अवश्य इस ज्ञान आराधना और संयम की आराधना के फलस्वरूप मनुष्य जीवन मिले और जल्दी जल्दी उन्हें मोक्ष प्राप्त करने का सौभाग्य भी प्राप्त हो। इसी भावना के साथ आप लोगों को मेरा शुभाशीर्वाद।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सल्लेखना : सारदर्शन, पारदर्शन, आत्मदर्शन

❑ श्री जिनेन्द्र वर्णी जी

सल्लेखना कहते हैं सत् लेखना अर्थात् अपने शान्त स्वभाव को देखना, या उसे ही अपना जीवन समझते हुये चलना; कषायों को कृश करते हुये चलना।

शान्ति ही जिसका देश हो, शान्ति ही जिसका शरीर हो, शान्ति ही जिसका सर्वस्व हो, उनके लिए इस चमड़े के शरीर का क्या मूल्य ? पड़ा है तो पड़ा रहे, जाये तो जाये।

पड़ा रहने से विशेष लाभ नहीं और जाने से कोई हानि नहीं। साधना पूरी हुई, अब मरने का समय आया है; मरने का नहीं मृत्यु महोत्सव का, साधना की परीक्षा का, समतापूर्वक देह को विदा करने का।

जब शान्ति-समतापूर्वक शरीर पर से अपना लक्ष्य हटाकर, अन्तर्ध्यान में लीन होने का अधिकाधिक प्रयत्न करता हुआ शान्ति में खो जाता है, वह सबके प्रति समता धारणकर ज्ञानधारा में प्रवेश कर जाता है, तब न रह जाती है उसे जीने की भावना, न मरने की इच्छा; न जीने के प्रति आकर्षण, न मरने के प्रति भय। शरीर के प्रति न राग न द्वेष।

वेतन देना बन्द कर देता है इसे अर्थात् खाना-पीना छोड़कर अपनी ओर से काष्ठवत् त्याग कर देता है वह इसका।

रहे तो छह महीने रह जाये, जाये तो भले आज चला जाये। न रहने से उसे कोई लाभ, न जाने से उसे कोई हानि।

अलौकिक है यह पुरुषार्थ!

मरणकाल आने पर ही उसमें प्रकट हो यह, ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि मरणकाल में लोगों की बुद्धि प्रायः भ्रष्ट होती देखी गई है। सारे जीवन की साधना पड़ी है इसके गर्भ में। जीवन भर नित्य किये गये कायोत्सर्ग का अभ्यास पड़ा है इसके मूल में।

तात्पर्य यह कि कोई यह समझे कि सारे जीवन तो स्वच्छन्द वर्ते और अन्त समय में समाधि-मरण धारण कर अपना कल्याण कर ले, यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्भव नहीं। जीना होता है जीवन–पर्यन्त समाधि–मरण की भावना से उसे। समाधि का अर्थ है मनःसमाधान; समता और मरण का परम अर्थ, देह का सहज त्याग।

क्या अन्तर है आत्महत्या और सल्लेखना में? ऊपर की क्रियाओं पर से अनुमान लगाने का प्रयत्न न करो, अन्दर की भावनाओं को टटोलो। ऊपर से तो निःसन्देह कुछ आत्महत्या सरीखा ही लगता है, परन्तु अन्दर में उतरकर देखते हैं तो आकाश--पाताल का अन्तर पाते हैं।

सल्लेखना रत योगी में है सबके प्रति समता और आत्महत्यागत अपराधी में है द्वेष या क्रोधपूर्ति की भावना।

योगी सबको शान्ति प्रदान करके जीता है और अपराधी सबको दाह उपजाकर; योगी के अन्दर है शान्ति का सौम्य सम्वाद और अपराधी के अन्दर है द्वेष की भड़कती ज्वाला, जिसमें स्वयं भड़ाभड़ जल रहा है वह। योगी के मुख–मण्डल पर है मुस्कान और आशा; अपराधी के मुख पर है क्रोध और निराशा; इसलिए नियम से, योगी के आगे आने वाला जीवन तो होता है शांन्तिपूर्ण और अपराधी का क्रोध तथा द्वेषपूर्ण।

योगी तो आगे भी पुनः शान्ति की साधना के प्रति ही झुकता है और अपराधी क्रोध के वशीभूत अपराधों के प्रति झुकता है।

योगी के आगे--आगे के जीवनों में बराबर शान्ति की वृद्धि होती है और अपराधी के आगे आने वाले जीवनों में क्रोध की।

योगी अपने प्रत्येक जीवन में शरीर को सेवक बनाकर अन्त समय में सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ प्रकाश की ओर चला जाता है, और अपराधी अपने प्रत्येक जीवन में उसका दास बनकर अन्धकार की ओर चला जाता है।

दो या चार जीवनों के पश्चात् ही योगी की साधना तो पूर्णता को स्पर्श कर लेती है, अर्थात् वह पूर्ण शान्त या मुक्त हो जाता है; परन्तु अपराधी कषाय और चिन्ताओं के सागर रूप इस संसार में सदा गोते खाता रहता है।

सल्लेखना वस्तुतः शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है, एक सच्चे वीर का महान् पराक्रम है। इससे पहले कि शरीर उसे जवाब दे वह स्वयं उसे समतापूर्वक जवाब दे देता है, और अपनी शान्ति की रक्षा में सावधान रहता हुआ उसी में विलीन हो जाता है। ("शान्ति पथ प्रदर्शन से") ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म की रेख पर मेख

❑ सिंघई जीवन कुमार, सागर

बात सन 1980 की है। 22 दिसम्बर से 30 दिसम्बर 1979 तक सागर में एक शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया था। शिविर के प्राध्यापक पं. श्री जगन्मोहनलाल जी कटनी एवं श्री नरेन्द्रप्रकाश जी फिरोजाबाद थे। संयोजक श्री वीरेन्द्र कुमार सिंघई, एम.टेक. (वर्तमान मुनिश्री क्षमासागर जी) थे। प्रतिदिन दोनों विद्वानों के प्रवचन कटरा व बड़ा बाजार मन्दिरों में हुआ करते थे।

पाँच प्रवचन संयम पर हुये। प्रत्येक में पूज्य पण्डित जी हाथ पर हाथ पटककर कहते थे कि– कर्म की रेख पर मेख लगाने का इससे बड़ा अवसर कब मिलेगा?

शिविर का समापन 30 दिस. 79 को हुआ। 31 दिस. को सभी विद्वान् घर पर भोजन करने आये। सभी को चि. सिंघई वीरेन्द्रकुमार ने स्वयं परोसकर भोजन कराया। सभी विद्वान् उसी दिन शाम को आचार्यश्री विद्यासागर जी के दर्शनार्थ नैनागिर गये।

वीरेन्द्रकुमार सिंघई के हृदय में वैराग्य ज्योति प्रज्वलित हो चुकी थी, अतः दसवें दिन 10 जनवरी 80 को उन्होंने कर्म की रेख पर मेख लगाने को आचार्य विद्यासागर जी महाराज से दीक्षा ग्रहण कर ली और क्षुल्लक क्षमासागर जी बन गये।

यह था पं. जगन्मोहनलाल जी की वाणी का प्रभाव। उस महान् आत्मा को शत–शत नमन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सल्लेखना प्राप्त करना दुर्लभ है

(आचार्यश्री के उद्बोधन के पश्चात् कुण्डलपुर में ही 8 अक्टूबर 1995 को श्री नीरज जैन की श्रद्धांजलि)

"सिर्फ आधा पेट खाकर, जो गुजारे दिन तमाम,
और दुनिया से नहीं जिसको कभी कोई भी काम।
एक भी दुनिया में जिसका दोस्त या दुश्मन नहीं,
उस महामानव को मेरे रोज के सौ सौ सलाम।
रोज के सौ सौ सलाम,........................."

बोलो विद्यासागर जी महाराज की जय

कल शाम को 95 वर्ष की आयु में पूज्य पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री का समाधिमरण इस क्षेत्र पर हुआ है। बड़े बाबा के चरणों में और आचार्य प्रवर श्री विद्यासागर महाराज के सान्निध्य में उनके संघ के सान्निध्य में समाधि होना बहुत बड़े भाग्य की बात है।

पूज्य आचार्यश्री! मुझे याद है कि आपके दीक्षा गुरु ने जिस दिन आपको आचार्य पद देने के बाद आपसे ही समाधि की याचना की थी, उस दिन उन्होंने सारे जग को यह बतला दिया था कि आप समाधि सम्राट् हैं और आपके चरणों में उत्तम समाधि हुआ करेगी।

पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री ऐसे साधक थे, जिनके चरणों का सम्पर्क और जिनके मन का विश्वास मुझे बहुत दिनों तक मिलता रहा। मैं वह दृश्य भूल नहीं पाता हूँ – सन् 1961 में भादों बदी 11 का दिन था, ईसरी में पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी की समाधि हो गई थी। 34 दिनों की सल्लेखना के बाद उनका समाधिमरण हुआ था। ऐसी गरिमापूर्ण समाधि मैंने उसके पहिले नहीं देखी थी। पं. जगन्मोहनलाल जी को मैंने टेलीग्राम दिया था, लेकिन उन्हें पहुँचने में कुछ विलम्ब हो गया और जब उनकी गाड़ी पहुँची और वे स्टेशन से उतरे तो चिता की ज्वालाएँ शांत हो चुकी थीं। वहाँ केवल अंगारे दहक रहे थे। वे कमरे में बैठकर रोये अपने गुरु के वियोग पर, और उसके बाद उन्होंने मुझसे कहा–भैया! थोड़ा चन्दन लाओ और चलो मेरे साथ। वे चंदन लेकर चिता के पास गये और उन्होंने मुझसे वहाँ फिर कहा– नीरज पिछले तीन बार जब–जब मैं वर्णी जी के पास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आया तो एक बात उन्होंने मुझसे जरूर कही कि जगन्मोहललाल तुम्हारे पिताजी ने हमें ब्रह्मचर्य के व्रत दिये थे। बोले–"मैं सोचता रहा कि क्यों मुझसे बार–बार कहते हैं। मुझे एक बार लगा कि मैं जवाब दे दूँ कि ठीक है मेरे पिता ने आपको दिये थे तो आप हमें दे दो–" लेकिन पण्डित जी ने कहा कि मेरा साहस नहीं हुआ। उस समय पण्डित जी की आयु 61 वर्ष की थी। उन्होंने कहा–"मेरा साहस नहीं हुआ, मेरी गलती हो गई, कोई बात नहीं, गुरु के सामने न सही तो उनकी चिता के सामने मैं आज ये व्रत लेता हूँ" और चिता पर चंदन चढ़ाते हुए पण्डित जी ने आजन्म ब्रह्मचर्य लिया मेरे सामने, और मैं ऐसा मानता हूँ कि वह इनकी सल्लेखना का मंगलाचरण था।

उसके चार साल के बाद जयपुर में अमरचन्द के यहां पं. जी रुके हुए थे। वहाँ से उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा, जिसमें उनके मन की विह्वलता अंकित है कि–"मैं छूटना चाहता हूँ।" वह छटपटाहट उनके अक्षरों में छिपी हुई है।

और उसके बाद मुझे याद है आचार्यश्री! जब पाँच साल पहिले आप के चरणों में उन्होंने सल्लेखना के लिए प्रार्थना की थी।

मुझे कभी–कभी ऐसा लगता है कि आपके पास पिच्छी प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है, जितना सल्लेखना प्राप्त करना कठिन है। पाँच साल तक पण्डित जी आपसे निवेदन करते रहे और जब आपने पात्रता देखी, समय देखा तो आपने उनकी सल्लेखना को साध दिया।

पूज्य आचार्यश्री! साधना का कोई कलश है तो यह सल्लेखना है, ऐसा यह जैन दर्शन स्वीकार करता है।

आपने इस युग में उस सल्लेखना की साधना को प्रधानता देकर आगम के इस वाक्य को प्रज्वलित कर दिया है, दीप्त कर दिया है। इसके लिए मैं आपके चरणों में सौ बार प्रणाम करता हूँ।

4537

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरण महोत्सव

□ नीरज जैन,

संसार की प्रायः सभी धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं में जीवन को सँवारने की और शान से जीने की विधियों का बार बार वर्णन किया गया है। जीवन को कला या आर्ट भी कहा गया है, पर, मृत्यु की हर जगह उपेक्षा की गई है। कलाओं की लम्बी तालिका में "मरने की कला" का कहीं नाम भी नहीं आता। मरण, जो जीवन का अनिवार्य परिणाम है, हर जगह इतना उपेक्षित रहा है कि प्रायः उसकी चर्चा भी वर्जित मानी गई है। परन्तु जैन जीवन–पद्धति में मृत्यु को उपेक्षणीय या तिरस्करणीय नहीं बताया गया। एक सचाई की तरह उसका सामना करने की ही शिक्षा दी गई है। यह जैनधर्म और जैन–दर्शन की विशेषता है कि वहाँ मृत्यु को कभी भी दृष्टि से ओझल नहीं किया गया। उसे एक उत्सव की तरह मानकर साहस और उत्साह के साथ "मरण महोत्सव" मनाने का परामर्श दिया गया है।

यदि जीवन को सँवारना है तो मृत्यु को पहिचानने का अभ्यास किया जाना चाहिये। वह कोई दुर्घटना नहीं है, जीवन की पूर्णता की प्रतीक वह एक अवश्यंभावी घटना है। जिसने भी जन्म लिया है, उसे एक न एक दिन मरना अवश्य है। तुलसीदास ने बड़ी सरलता से यह बात कही–

धरा कौ प्रमान यहै तुलसी
जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

जो फला है वह झड़ेगा, जो जला है वह बुझेगा। जो जन्मा है वह मरेगा। इसमें कहीं, कभी, कोई व्यतिक्रम नहीं हो सकता। अंतर इतना है कि जो उस अवश्यंभावी मृत्यु से डरते हैं, वे उसके आने के पूर्व ही, उसके आतंक मात्र से, हजारों बार मरते रहते हैं। जो समझदार हैं वे उसकी प्रतीक्षा करते हैं और सामना होने पर प्रेयसी की तरह, उसकी आँखें में आँखें डालकर उसका स्वागत करते हैं। वे मरण को विपत्ति की तरह नहीं, त्यौहार की तरह आनन्द से स्वीकार करते हैं। संत तो उसे पूर्ण और परम आनन्द का अवसर मानते हैं–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जा मरिबे तैं जग डरै, मोरे मन आनन्द,
मरन कियें ही पाइये पूरन परमानन्द।

संत कवि दादू ने कहा–"मरने के पूर्व ही मरण का अभ्यास कर लो। उससे परिचय कर लो। उसका भय और आतंक समाप्त कर डालो। अंत में मरना तो सबको है, परन्तु अपने प्रभु के सामने भयभीत होकर, मृतक समान निश्चेष्ठ होकर जाने में कोई बुद्धिमानी नहीं।

जीवित माटी ह्वै रहै, सांई सन्मुख होय,
दादू पहिले मरि रहै अंत मरै सब कोय।

दादू ने मृत अवस्था की बात कहते समय पहले जीवन का भी यथार्थ वर्णन किया है। जो काम, क्रोध, मोह और लोभ आदि विकारों की आग में जलकर नित्य–मरण कर रहा है, वास्तव में वही मर रहा है। जो इस प्रकार के नित्य भाव–मरण से बच गया, वह तो मरते हुए भी जीवित ही है–

राव–रंक सब मरहिंगे, जीवै नाहीं कोय,
सोई कहिये जीवता जो मरजीवा होय।

इसी बात को संत कबीर ने भी एक दोहे में व्यक्त किया है। वे भी मरने के पहले संसार की ओर से "मृतवत" निरपेक्ष होने के भाव की सराहना करते हैं–

जीवन से मरना भला, जो मरि जानै कोय,
मरने पहले जो मरै, अज्जर अम्मर होय।

इस दोहे में उन्होंने चार बातें कही हैं–

1. जीने से मरना अच्छा है।
2. मरना उसी का सार्थक है जो मरने का ढंग जानता हो।
3. मरने से पहले ही, स्व के प्रति जागरूकता और संसार के प्रति उदासीनता या उपेक्षा भाव धारण करके ही मरना चाहिये।
4. इस प्रकार मरने से पहले मरने वाला अजर–अमर हो जाता है।

इन दोनों संतों की बात को मिलाकर समझना होगा। कबीर ने कहा मरने से पहले ही मर जाना ठीक है, यदि मरने का ढंग मालूम हो। उन्होंने ऐसे मरण का फल भी बता दिया कि–"इस प्रकार एक बार मरने से मृत्यु ही समाप्त हो जाती है, हमेशा के लिए।" पर उन्होंने इस दोहे में मरने का सही ढंग नहीं बताया। संत दादू ने वह ढंग बता दिया –"जो भाव–मरण कर रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, वही मर रहा है। प्रतिक्षण मर रहा है। जिसने उस मरण को जीत लिया वह कभी नहीं मरता। वह तो अजर–अमर हो जाता है।''

अज्ञानी मृत्यु से भयभीत होते हैं, परन्तु संत मरण को महोत्सव मानते हैं–

जा मरिवे तैं जग डरै, मोरे मन आनन्द,
मरन कियैं ही पाइये पूरन परमानन्द।

इसका यही तो अर्थ है कि जिस संसार की मोह–ममता छूटने के भय से मृत्यु भयानक लगती है, उस मोह ममता में उलझ कर केवल सांसारिक, क्षणिक और अस्थायी सुख ही भोगा जा सकता है। आत्मानुभूति का आनन्द तो संसार और शरीर की अहंमन्यता से ऊपर उठकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिये मरण के प्रति संतों–महात्माओं का दृष्टिकोण कुछ अलग ही होता है। यहाँ मुझे एक कहानी याद आती है।

सूफी संत इब्राहीम गाँव के बाहर किसी वृक्ष के नीचे बैठे थे। किसी राहगीर ने उनसे बस्ती का मार्ग पूछा। संत ने उसे वह मार्ग बता दिया जो सीधे मरघट की ओर जाता है। फकीर बस्ती की चाह में जब मरघट पहुँच गया तो उसे संत पर क्रोध आया। लौटकर अपने आवेश को दबाते हुए उसने कहा–''हुजूर, मैंने आपसे बस्ती का रास्ता पूछा था। आपने मुझे जीते जी मरघट पहुँचा दिया? अभी तो मेरी उम्र भी वहाँ जाने की नहीं है?''

संत ने अपनी शान्तमुद्रा में ही उत्तर दिया–''भाई तुम्हारी और मेरी भाषा में अंतर है। हम दोनों के सोचने में फर्क है। जो रोज उजड़ती है, उसे तुम ''बस्ती'' कहते हो, और जो सदा एक जैसा आबाद रहता है, उसे मरघट। तुम्हारी बस्ती में जो भी आया, एक न एक दिन उसे छोड़कर जाना ही पड़ा। पर, मरघट में जो एक बार पहुँच गया, वह वहीं बस गया। फिर उसे यहाँ से कोई, कभी निकालता नहीं। इसीलिये मेरी समझ में, और मेरे विचार में, जहाँ लोग जाकर बस जाते हैं, वही बस्ती है। जो रोज उजड़ रही हो उसे मैं बस्ती कैसे कहूं?

संत का उत्तर सुनकर राहगीर निरुत्तर रह गया। हमारे पास भी तो इस विसंगति का कोई उत्तर नहीं है। वास्तव में हमें मृत्यु से उतना भय नहीं लगता जितना उसके नाम से लगता है। इसीलिये तो जहाँ हमारे सारे पूर्वज मरते आये हैं, उसे हम सदन, भवन, निवास, मंजिल या प्रासाद कह कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गौरवान्वित होते हैं, और जहाँ आज तक हमारा कोई मरा नहीं, जो मात्र मृत देह का शरणस्थल है, उसे हम मरघट कहते हैं।

इन सारी बातों से स्पष्ट है कि कहीं न कहीं कोई भूल अवश्य है। शायद मरण के बारे में हमारी अवधारण सही नहीं है। उनमें कोई भ्रान्ति, कोई गलतफहमी अवश्य है। यदि यह आशंका सच हो तो यह भी मान लेना होगा कि फिर जीवन के बारे में भी हमारे मन में कोई भ्रान्ति होगी। सोने के टुकड़े का एक छोर यदि हमें लोहा दिखाई देने लगे, तो फिर बहुत कम आशा है कि दूसरा छोर हम सही पहचान पायेंगे। अतः जब मरण हमारे जीवन की अंतिम और अनिवार्य परिणति है, तब यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि, हममें जीवन–दर्शन की तरह मरण के दर्शन को भी समझने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

डरें नहीं, उससे परिचय करें

मृत्यु के भय को जीतने का सबसे आसान उपाय यह है कि उसे ठीक–ठीक पहचान लें। वास्तव में मृत्यु से हम इसलिये नहीं डरते कि वह कष्टकर होती है। हम इसलिये भी उससे भयभीत नहीं हैं कि वह हमें किसी अहितकर या दुखद स्थान की ओर ले जाती है। हमारा भय ज्यादातर तो इसलिये होता है कि हम उसे पहचानते नहीं हैं। उसके माध्यम से हमें जो यात्रा करनी है, यद्यपि उस यात्रा का मुहूर्त प्रायः निश्चित और अटल है, परन्तु हम उस यात्रा के बारे में कुछ भी जानते नहीं हैं। यह किसी जाने–पहचाने घर से निकलकर, एकदम अपरिचित और नई जगह पर, किसी सर्वथा अनजाने घर में प्रवेश करने की मजबूरी जैसी यात्रा हमें लगती है। ज्ञात से अज्ञात की ओर यात्रा का यही भय मृत्यु का आतंक है। यही वह पीड़ा है जो होने से पहले, जीवन भर हमें पीड़ित करती रहती है।

मृत्यु को पहचानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि हम उसका अनुभव नहीं कर पाते। वह तो जीवन के अंत में सिर्फ एक बार आती है और हमें चिर–निद्रा में सुला जाती है। उसका अनुभव करके दूसरों को बताया जा सके, ऐसा अवसर तो किसी को कभी मिलता ही नहीं। जब तक वह आकर मन और मस्तिष्क को पूरी तरह निश्चेष्ट नहीं कर देती, तब तक उसका अनुभव किसी को होता ही नहीं और एक बार जब उसका साक्षात्कार हो जाता है, तब उस अनुभव को व्यक्त करने की सुविधा नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती। ऐसी दशा में उसे कैसे पहचाना जाये ? कौन सा ऐसा उपाय हो कि हम जागृत दशा में मृत्यु के आलिंगन के लिये अपने आप को तैयार कर सकें ? उसके स्वागत के लिये अपने आपको प्रस्तुत कर सकें।

संतों ने मृत्यु को पहचानने का एक उपाय यह बताया है कि पहले हम अपने दुखों को पहचान लें। उसका कारण यह है कि मृत्यु का मूल रहस्य अपने आपको शरीर से पृथक देखने जानने का है। वह रहस्य एक बार खुल जाये तो जीवन और मृत्यु को अलग–अलग पहचानना आसान हो जायेगा। इन दोनों का संयोग ही जन्म है और उनका वियोग ही मृत्यु है। तब फिर यदि अपने आपको हम शरीर से जुदा करके देखना या समझना चाहें तो ऐसा अवसर हमें दुख की अवस्था में ही मिल सकता है। सुख के क्षणों में ऐसा देखा जाना आसान नहीं है।

दुख की अवस्था हम में से किसी के लिये भी, दुर्लभ अवसर नहीं है। सुख का भोग तो सदा शरीर के साथ अभिन्न होकर ही किया जा सकता है, पर, दुख के अनुभव के साथ ऐसी कोई शर्त नहीं है। वहाँ तो थोड़ा सा ही विचार करने पर शरीर की दशा स्पष्ट और अपने आप से पृथक देखी जा सकती है। दुख या पीड़ा के समय, जब हमारा शरीर व्याधियों के उपद्रव से छिन्न--भिन्न होने लगता है, तब यह विचार करना कठिन नहीं है कि– ''यदि इस समय हम इस शरीर में न होते तो अधिक अच्छा होता।'' सुख के मौके पर ऐसा सोचना कठिन है।

दुख और दर्द का उपचार प्रायः विचित्र ढंग से किया जाता है। दुख को भुला देना, या पीड़ा से हटाकर अपने मन को अन्यत्र लगा लेना, या फिर अपनी चेतना को ही सुला देना, पीड़ा का उपचार माना गया है। क्षण भर के लिये कोई और बड़ी पीड़ा उत्पन्न करके भी पीड़ा का उपचार करते हैं। इसे ''शॉक ट्रीटमेण्ट'' कहा जाता है। यदि पीड़ा असह्य हो तो इंजेक्शन आदि के द्वारा रोगी को मूर्छित कर दिया जाता है। उसे चेतना--शून्य कुछ काल के लिये बना दिया जाता है। सामान्यतः पीड़ा और दुख के यही हमारे जाने--माने उपचार हैं। पर ये सब अस्थायी और भ्रामक उपचार हैं।

दुख सहना भी कला है

मानसिक पीड़ाओं का सामना करने के लिये भी मनुष्य ने ऐसे ही कुछ मन को भरमाने वाले बनावटी उपचार ढूंढ़ निकाले हैं। शराब,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिगरेट, संगीत और सिनेमा आदि में अपने आपको उलझाकर मनुष्य अपना दुख भूलने का भ्रम पाल लेता है और उन हानिकर उपायों के फेर में पड़कर नित नये दुखों का अपने लिये सृजन करने लगता है। वास्तव में दुख को पहचानना और उसे भी जीवन के खेल का एक खिलाड़ी बना लेना ही उसके जीतने का उपाय है। बिरले ही लोग ऐसा कर पाते हैं कि अपने दुख के प्रति सजग रहते हुए, पीड़ा को पहचानते हुए, उसे समता-पूर्वक "अपराजित मन से" भोग सकें। जो ऐसा कर लेते हैं, दुख उनके लिये दुखदायक नहीं रह जाता। पीड़ा फिर उनके लिये पीड़ा-प्रद नहीं रह जाती। इस प्रक्रिया में पूरी तरह सावधान और सचेष्ट रहकर ही दुख का सामना करना पड़ता है। उसके साथ दोस्ती करनी पड़ती है, उसे प्रेम से सहलाना पड़ता है। उसके आने पर विचलित होने का संस्कार तोड़ना पड़ता है। इस प्रकार अपना ही साक्षी बनकर पीड़ा के क्षणों को जीना तभी सम्भव है जब हम अपने आपको शरीर से पृथक करके, शरीर की परिणति को पहचान सकें।

जो अपने जीवन में इस प्रकार अपनी चेतना के माध्यम से दुख का सत्कार करना सीख लेगा, उसके लिये दुख का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रह जायेगा। उसके लिये वह शरीर और मन की एक ऐसी जानी-पहचानी सी परिणति की तरह स्वीकार हो जायेगा कि उसे जानना, देखना और भोगते रहना मनोरंजक लगने लगेगा। दुख को पहचानने का, और पूरे होशो-हवास के साथ उसे जीने का जिसे अभ्यास हो जायेगा वही व्यक्ति जीवन के अंत में, भय रहित और निःशंक होकर, मृत्यु का स्वागत करने का साहस कर सकता है। जो जीवन में दुखों के आतंक को जीतकर जीना सीख लेता है, वही अंत में मृत्यु के आतंक पर विजय प्राप्त करने की बात सोच सकता है। इसीलिये तो जैनाचार्य कहते हैं कि सु-मरण का उपाय जीवन के अंत में नहीं, प्रारम्भ से ही करना पड़ता है।

बड़ा अंतर है दुख और कष्ट में

प्रायः हम अपने छोटे-छोटे दुखों को भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर आँकते रहते हैं। दुख के बारे में हमारी कल्पना जितनी विस्तृत होती है, उसका आतंक भी उतना ही विस्तृत होता है। वास्तव में पीड़ा का केन्द्र प्रायः छोटा होता है और हमारी कल्पना में उसका विस्तार बहुत अधिक होता है। ऐसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थिति में हमारा दुख पीड़ा के अनुसार नहीं, हमारी कल्पना के अनुसार विशाल और विस्तृत होता है। यहाँ हम कष्ट और दुख को अलग–अलग समझने का प्रयास करेंगे।

कष्ट शारीरिक पीड़ा का नाम है। वह कभी तो हमारे कर्मोदय से, और कभी नितान्त बाहरी कारणों से घटित होने वाली घटना है। एक बार घट जाने पर उसका प्रतिकार सम्भव नहीं होता। उसे भोगना ही होता है। इस कष्ट के माध्यम से हमें पीड़ा की जो आंतरिक अनुभूति होती है, वह दुख है। हम इसे यों भी कह सकते हैं कि कष्ट एक बाहरी घटना है जो बाहरी संयोगों तक, और अधिक से अधिक हमारे शरीर तक सीमित है। परन्तु दुख हमारी चेतना के भीतर घटित होने वाली घटना है। उसकी अनुभूति हमें पीड़ित करती है। दोनों के क्षेत्र जुदे–जुदे हैं। दोनों के कारण जुदे–जुदे हैं। इसी प्रकार दोनों के उपचार भी जुदे–जुदे हैं। तब फिर आवश्यक है कि हमारे पास कष्ट और दुख की सही परिभाषा और सही अवधारणा होनी चाहिये। उनके प्रति हमारा बर्ताव भी अलग–अलग प्रकार का होना चाहिये।

कष्ट का दुख के साथ सीधा सम्बन्ध है भी और नहीं भी है। प्रायः तो यही देखा जाता है कि शरीर में कष्ट होने पर दुख भी होता ही है। परन्तु कितना कष्ट होने पर कितना दुख होगा ऐसा कोई अनुपात निर्धारित नहीं किया जा सकता। एक ही प्रकार का, और एक ही मात्रा का कष्ट होने पर कुछ लोग बहुत दुखी देखे जाते हैं, परन्तु वहीं कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो उस प्रकार का, उतनी मात्रा में आने पर भी, उस कष्ट को समता भाव से, अविचलित या अपराजित मन से भोग लेते हैं और उतने दुखी नहीं होते। इससे प्रमाणित होता है कि शरीर में घटित होने वाला कष्ट हमारे दुख का निमित्त तो है, पर नियामक नहीं है। ये घटनाएं शारीरिक स्तर पर अपने कारणों से, अपनी जगह घटती रहती हैं, और उन्हें लेकर हम अपनी तात्कालिक मनस्थिति के अनुसार, या अपनी आदत के अनुसार, अथवा अपनी हॉबी के अनुसार, कभी कम और कभी अधिक दुखी होते रहते हैं।

कई बार तो ऐसा भी होता है कि शरीर के साथ कुछ घटित हो जाता है, कोई चोट आदि लग जाती है, पर उस समय हमारा ध्यान कहीं अन्यत्र केन्द्रित होने से हमें पीड़ा का कोई अनुभव नहीं होता। कोई दुख नहीं होता। परन्तु कुछ समय बाद, जब हमारा ध्यान उस चोट की ओर जाता है तब,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमें पीड़ा का संवेदन होने लगता है। तब उसी समय हम दुख भी मनाने लगते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि शारीरिक कष्ट तो बहुत होता है, परन्तु उससे दुख जरा सा भी नहीं होता। कभी–कभी तो कष्ट की स्थिति में उल्टे आनन्द का या सुख का अनुभव होता है। माताओं की प्रसव–पीड़ा अथवा परोपकार की भावना से किया गया आत्म–बलिदान, ये सब ऐसी ही घटनाएं हैं जिनमें कष्ट और दुख की विषम–व्याप्ति का यह वैचित्र्य देखने को मिलता है।

इस प्रकार विश्लेषण पूर्वक विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कष्ट एक जुदी चीज है और उससे होने वाली पीड़ा या दुख कोई अलग वस्तु है। यही कारण है कि जितना कष्ट होगा, दुख उतना भी हो सकता है, उससे कम भी हो सकता है, और नहीं भी हो सकता। उससे अधिक भी हो सकता है और वही कष्ट सन्तोष, सुख और आनन्द का कारण भी बन सकता है। कष्ट एक बाहरी स्तर पर घटित होने वाली घटना है। इसे हम कर्म का फल, होनहार या संयोग की देन भी मान सकते हैं। कुछ सीमा तक उसे अटल और अनिवार्य भी कहा जा सकता है, परन्तु दुख हमारी आंतरिक घटना है। उसके कारण अलग हैं। वह हमारे विचारों का खेल है। उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। प्रायः हम अपने असम्यक् विचारों से, या दुखी बने रहने की आदत के कारण, अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण दुखी होते रहते हैं। शायद हमने अपनी समझ ऐसी बना रखी है कि एक विशेष प्रकार की घटनाएं जब, और जहाँ घटित हों, तब और तहाँ, हमें– दुखित होना ही चाहिये। उस स्थिति में हमें लगता है कि अब दुखी हुए बिना रहा नहीं जा सकता। बस, अधिकतर हम इसीलिये दुखी होते रहते हैं।

थोड़ा सा विचार करने पर, छोटे से विश्लेषण से ही, यह रहस्य हमारे सामने स्पष्ट हो सकता है कि यदि संसार में घटने वाली घटनाओं को रोकना संभव न भी हो, तो भी, उन्हें लेकर सुखी या दुखी होने की हमारे ऊपर कोई बाध्यता नहीं है। हम पर कहीं से ऐसा कोई बंधन नहीं है। ऐसी कोई दासता हमने कभी स्वीकार नहीं की है। यही तो कारण है कि जिन परिस्थितियों में सामान्य व्यक्ति बहुत आतंकित या दुखी हो जाते हैं, वैसी ही परिस्थितियों में ज्ञानी साधक और संत, अडिग और स्थिर–चित्त बने रहते हैं। वे समता परिणामों से, या अपराजित मन से उन घटनाओं का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामना करते हैं और उनको जानते हुए भी अपनी समता को खण्डित नहीं होने देते। बस, इसीलिये दुख उनकी चेतना में प्रवेश नहीं करने पाता। उनके मानस सागर में उसकी हिलोर नहीं उठ पाती।

कष्ट और दुख के बारे में ऐसी स्पष्ट अवधारणा बनाकर, उसका निरन्तर चिन्तन करते रहने से ही शरीर और आत्मा की भिन्नता को अनुभव किया जा सकता है। इस अनुभव के बल पर ही मृत्यु के भय पर विजय पाना सम्भव हो पाता है। जैनाचार्यों ने इस परिणाम–मूलक चिन्तन की उपलब्धि के लिये द्वादस–अनुप्रेक्षाओं का, या बारह भावनाओं का, निरन्तर चिन्तन करने का परामर्श दिया है। मृत्यु के आतंक को जीतने का इससे आसान और कोई उपाय नहीं।

जैनाचार्यों ने आत्मा और देह की भिन्नता के चिन्तन को समाधि–साधना के लिये उपयोगी बताया है। पूज्यपाद स्वामी ने अपने "इष्टोपदेश" तथा "समाधितंत्र" में इस समाधि–विज्ञान की बहुत सार्थक और सटीक व्याख्याएं की हैं। उन्होंने लिखा–"वस्त्र के नष्ट हो जाने पर जैसे स्वयं को नष्ट नहीं माना जाता वैसे ही अपनी देह के नाश होने पर आत्मा के नाश का भय नहीं करना चाहिये।

नष्टे वस्त्रे यथाऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा
नष्टे स्वदेहेऽपि आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः।

–समाधितंत्र 65

आचार्य आगे कहते हैं– "जैसे स्वप्न में शरीर नष्ट होता हुआ देखने पर भी वास्तव में आत्मा का नाश नहीं होता, इसी प्रकार साक्षात् शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। इसका कारण है कि ये दोनों निश्चित ही भिन्न हैं।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः,
तथा जागर दृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः।

–समाधितंत्र 101

इस देह और आत्मा की भिन्नता को पुष्ट करने के लिये आचार्य पूज्यपाद ने लिखा–

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः,
सर्वथान्य स्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।

–इष्टोपदेश 8.

दार्शनिक दृष्टि तो यही रही है कि मेरे भीतर राग–द्वेष, सुख–दुख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और जीवन–मरण की जो दाह है, वह इस शरीर–संयोग के ही कारण है। इस देह का विनाश होने पर वे सब देहजन्य दुख, या वह सारा देहाश्रित ताप, स्वयं समाप्त हो जाता है और आत्मा को शीतलता का अनुभव होता है।

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात्
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः।

शरीर और आत्मा के इस संयोग को बार–बार दुख का कारण मानते हुए उस नश्वर संयोग को मनसा–वाचा–कर्मणा त्यागने का संकल्प आचार्य कराना चाहते हैं।

दुःख संदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनां
त्यजाम्येन ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः।

—इष्टोपदेश 28

इतना बोध करा देने के उपरान्त आचार्य साधक के सामने यह गणित प्रस्तुत करते हैं कि–''बाल–वृद्ध और युवावस्था तो शरीर की होती है, मेरी नहीं। जब वह शरीर मेरा है ही नहीं, तब इसमें होने वाली व्याधियाँ, और इसके वियोग में होने वाली मृत्यु, मेरी कैसे हो सकती है। वे भी तो शरीर की हीं अवस्थाएं हैं। तब फिर जब मेरी मृत्यु हो ही नहीं सकती तब मुझे उसका भय कैसा ? और जब व्याधि मुझे हो ही नहीं सकती तब मुझे उसकी व्यथा कैसी ? ये सब तो काल्पनिक भय हैं, वास्तविक नहीं।

न मे मृत्युः कुतो भीतिः न मे व्याधिः कुतो व्यथा,
नाहं वालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि च पुद्गले।

—इष्टोपदेश 29.

इस प्रकार आचार्यों ने देह और आत्मा की भिन्नता के आधार पर साधक के लिये ''आत्म–स्वातंत्र्य'' का मंत्र दिया है। उसे बार बार बताया है कि जन्म और मृत्यु दोनों ही तुम्हारी लम्बी संसार यात्रा के मोड़ हैं। ये दोनों एक दूसरे के लिये अनिवार्य भी हैं। जन्म के बिना मृत्यु की, और मृत्यु के बिना जन्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह तो कपड़े बदलने जैसी प्रक्रिया है। होती ही रहती है। इन अनन्त जन्मों और मृत्युओं के बीच सदा विद्यमान रहने वाला जो आत्मा है वही, और मात्र वही, तुम हो।

मृत्यु तो जीवन की परीक्षा है। ज्ञानी इसमें उत्तीर्ण होते हैं और अज्ञानी पेपर सामने आते ही रोना–धोना शुरु करके अपना अगला जीवन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी दुखी बना लेते हैं। इसका रहस्य तो इतना ही है कि मृत्यु को सामने देखकर जो मुँह छिपाता फिरा, रोता कलपता रहा, वह इससे हार गया। पर जिसने सामने आती मृत्यु को ललकार कर उलाहना दिया कि–''हम तो तैयार बैठे हैं, विलम्ब तो तुमने किया है।'' जिसने मृत्यु की आँख से आँख मिला ली, उसकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ा दिया, जीत उसी की होती है।

चित्त के विकारों को धोने के लिये आत्मा का ऐसा प्रक्षालन करके नवीन भव के लिये प्रस्थान करने का यही संकल्प **''सल्लेखना''** कहा गया है। अवश्यंभावी मरण के सोत्साह वरण के इसी उत्सव को **''समाधि–साधना''** कहा गया है और जीवन को सार्थकता देने वाली मृत्यु की इसी विधि का नाम है **''मरण–महोत्सव''**।

जो साधक घर–परिवार और परिग्रह के प्रति अनासक्त होकर, अंतिम समय में संतों के चरणों का सान्निध्य प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, जिन–मन्दिर या तीर्थ–धाम की शरण प्राप्त कर लेते हैं, और ऐसे निष्पाप समाधि–मरण की साधना करके अपना पर्याय परिवर्तन करते हैं, उन्हें निश्चित ही उत्तम गति प्राप्त होती है। इसीलिये सल्लेखना या समाधि–मरण की साधना के बारे में जैन आचार्यों ने अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ भी रचे और प्रायः सभी पुराणों में इस साधना का सविस्तार वर्णन करते हुए यह साधना सफल करने वाले भव्य साधकों की सराहना की है।

जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् **श्रीमान पण्डित जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री** ने मृत्यु के लगभग तीस वर्ष पहले से समाधि–साधना का संकल्प कर रखा था। इस संकल्प को उन्होंने अपने पत्रों में, और आपसी चर्चा आदि में बार बार दोहराया भी। यह पुण्य संयोग था कि अंत में उन्हें इस अनुष्ठान के लिये **संत–शिरोमणि, समाधि सम्राट, दिगम्बराचार्य पूज्य विद्यासागरजी** जैसे पुनीत निर्यापक का, **श्री क्षेत्र कुण्डलपुर** जैसी पावन तीर्थ–भूमि पर सान्निध्य प्राप्त हुआ। उनकी वह चिरपोषित भावना साकार हुई। ऐसे कृपालु संत के चरणों में सौ–सौ बार नमन। **ऐसा पवित्र मरण–अनुष्ठान साधने वाले मुमुक्षु साधक पं. जगन्मोहनलालजी की स्मृतियों को बार बार प्रणाम।**

वीर शासन जयन्ती,
शान्ति सदन, सतना.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधिमरण
मोक्षमार्ग का पाथेय

❑ डॉ. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी

जन्म और मरण– ये दोनों प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पुनः पुनः अनुभूत हैं। उसे यह भी ज्ञात है कि जिसने जन्म लिया है, उसका मरण भी अवश्यंभावी है, किन्तु उसे सबसे अधिक भय मरने का ही लगता है। अतः शास्त्रों में जिन सप्त भयों की चर्चा की गई है, उनमें मरण भय प्रमुख है। किन्तु जब यह शाश्वत सत्य हैं कि आयु कर्म के समाप्त होते ही व्यक्ति मरण को प्राप्त होगा, तब फिर उस शाश्वत सत्य से घबड़ाना क्यों? इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण कहते हैं–

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।2/27।।

अर्थात् जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हो गई उसका जन्म ग्रहण करना निश्चित है। अतः अपरिहार्य के लिये शोक करना योग्य नहीं है।

जैनदर्शन में शरीर त्याग करने के पश्चात् पुनः भविष्य में कभी भी शरीर धारण न करने/जन्म–मरण से छुटकारा पाने को मोक्ष कहा है और इस मोक्ष की प्राप्ति का मूल उपाय है समाधिमरण।

व्यक्ति जन्म लेता है तो माता–पिता और परिजन खुशियाँ मनाते हैं और जब मृत्यु को वरण करता है तो कुटुम्बीजन शोक मानते हैं। एक सत्य को स्वीकार कर खुशी मनाना और दूसरे सत्य को भरसक झुठलाने की कोशिश करते हुये आयु कर्म के क्षय होने पर शोक मनाना– ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसीलिये जो महान् व्यक्ति/ ज्ञानीजन हैं, वे संयोग और वियोग में समता धारण करते हैं। उन्हें यह अच्छी तरह ज्ञात है कि यह सब पुद्गल की पर्यायों का खेल है। इसी खेल को वेदान्ती माया कहते हैं। जैन लोग इसे व्यवहार कहते हैं। परन्तु है सब पुद्गल की पर्यायों का खेल ही। खेल में जय और पराजय के कारण बालक/मूढ़/अज्ञानी तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुख–दुःख मनाते हैं, किन्तु ज्ञानीजनों की यह रीति नहीं है। वे तो "जल तें भिन्न कमल" की तरह सदैव निर्लिप्त होते हैं। उन्हें मरण का भय सताता नहीं है, अपितु वे इसे अपने पूर्वोपार्जित/संचित कर्मों की निर्जरा मानते हैं और भविष्य में इस कर्म–परम्परा के विच्छेद हेतु प्रयत्नशील/कृत संकल्प रहते हैं। ऐसे जीव ही जीवन के अन्त में समता धारण कर समाधि प्राप्त करते हैं।

जीवन के अन्त में सभी को समाधि प्राप्त नहीं होती। वह जिन्हें प्राप्त होती है वे "बड़भागी" हैं। जीवन भर की साधना का फल समाधिपूर्वक शरीर विसर्जन करना है। जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन तीव्र रागद्वेष में बिताया हो, उसे अन्त समय में समाधि प्राप्त होना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। किन्तु जिन्होंने समतापूर्वक आजीवन साधना की है, उनकी सहज–समाधि सम्भव है। वस्तुतः समता का नाम ही समाधि है। जिसके परिणामों में समताभाव आ गया, शत्रु–मित्र का भेद समाप्त हो गया, सोना और मिट्टी – ये दो पुद्‌गल के रूप हैं, यह भाव जाग्रत हो गया, जन्म और मरण के भय से मुक्त हो आत्मतल्लीन हो गया, उसका जीवन सफल है/कृतकृत्य है।

जानने वाला आत्मा है। यदि उसने अपने को नहीं जाना तो सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों का जानना व्यर्थ है, पर जिसने बाह्य पदार्थों को भले ही न जाना हो, किन्तु अपने को जान लिया तो उसका जीवन धन्य है।

जीवन के अन्त में समाधिपूर्वक शरीर त्यागना एक कला है और इस कला की साधना आजीवन चलती है। जरा सा चूके तो जीवन भर की साधना क्षणभर में नष्ट हो जाती है। इसलिये सच्चा साधक कभी भी साधना से विरत नहीं होता है। यहाँ तक कि खाने–पीने, उठने–बैठने, चलने–फिरने और सोने जैसी दैनिक क्रियायें करते हुये भी वह सावधान रहता है। वह एक क्षण को भी प्रमाद नहीं करता है। साधक के जीवन में कभी विश्राम नहीं होता। वह विवेक की कसौटी पर निरन्तर अपने को कसता रहता है।

जो अपने संकल्प के अनुसार लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं, वे अन्त में अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करते हैं। समाधिमरण वर्तमान जीवन का अन्तिम लक्ष्य है और अन्त भला सो सब भला।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शत्रु के प्रति बैरभाव त्यागा जा सकता है, किन्तु अपनों के प्रति रागभाव का त्याग करना बहुत कठिन है। इसलिये महाकवि दौलतराम ने छहढाला के अन्त में निष्कर्ष स्वरूप लिखा है–

यह राग–आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
वहु भजे विषय–कषाय, अब तो त्याग, निज पद वेइये।।

हमारा सारा जीवन राग की आग में भस्म हो, इससे पूर्व ही हमें सावधान हो जाना चाहिये। फिर यह राग चाहे बाह्य पदार्थों के प्रति हो अथवा विषय–कषाय रूप आन्तरिक शत्रुओं के प्रति हो। यह राग तभी समाप्त हो सकता है जब हम समता रूपी अमृत/औषधी का सेवन करेंगे। समाधि समताभावों से ही मिलेगी। यदि हमने सच्चे अर्थों में समाधि को प्राप्त कर लिया/समाधिपूर्वक शरीर–विसर्जन कर लिया तो निश्चय ही यह हमारे लिये मोक्षमार्ग में पाथेय का कार्य करेगा।

जिस व्यक्ति ने संसार से उदासीन हो मोक्षमार्ग में पदन्यास कर लिया है, उसे इस जीवन के अन्त में साधनापूर्वक प्राप्त समाधिमरण मोक्षमार्ग में कार्यकारी सिद्ध होगा, यह ध्रुव सत्य है।

समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर उस मोक्षमार्ग में कदम बढ़ा चुके श्रद्धेय गुरुवर्य पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री को उनकी प्रथम पुण्यतिथि पर हमारा शतशः विनम्र प्रणाम।

कई बार साहू शान्ति प्रसादजी ने पण्डित जी को पर्यूषण पर्व में आमंत्रित किया। साहूजी अपने पूरे परिवार के साथ तत्वचर्चा में भाग लेते थे।

एक दिन तत्वचर्चा के क्रम में बहु-आरम्भ और बहु-परिग्रह के परिणाम स्वरूप नरकायु के बन्ध का प्रकरण आया। साहूजी ने मध्य में टोकते हुए पण्डितजी से पूछा- 'पण्डितजी ! यदि ऐसा होता है तो हमारा क्या होगा?' पण्डितजी ने बिना किसी संकोच के स्पष्ट कहा कि- 'जो आगम में लिखा है, वही होगा।'

पण्डितजी की आगम के प्रति ऐसी सच्ची निष्ठा थी और सच्ची बात कहने में वे किसी का संकोच भी नहीं करते थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सल्लेखना आत्मघात नहीं है

❑ डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन, बुरहानपुर

"जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च" अर्थात् जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसका मरण हो गया है, उसका जन्म अवश्यंभावी है, किन्तु यदि मरण समाधिपूर्वक हो जाये तो जन्म–मरण सीमित हो जाते हैं इसीलिए जिनाज्ञा है कि–"मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता" अर्थात् मरण के अन्त में प्रीतिपूर्वक सल्लेखना करनी चाहिए।

इन्द्रियों की शक्तिमन्द होने पर अतिवृद्धता, उपसर्ग एवं व्रत क्षय के कारण उपस्थित होने पर, महान दुर्भिक्ष पड़ने पर, असाध्य और तीव्र रोग आ जाने पर, जंघाबल क्षीण हो जाने पर, धर्मध्यान एवं कायोत्सर्ग आदि करने की शक्ति क्षीण हो जाने पर, विद्वानों को चाहिए कि मोक्ष प्राप्ति के लिए समाधिमरण ग्रहण करें। समाधिमरण का अपरनाम सल्लेखना है, जिसका लक्ष्य अच्छी प्रकार से काय और कपाय का लेखन अर्थात् कृश करना है– अर्थात् बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का, उत्तरोत्तर काय और कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है।

इस प्रकार की सल्लेखना में देह विसर्जन को देखकर कुछ लोग इसे आत्मघात या आत्महत्या कहते हैं, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि दोनों के कारण और लक्षणों में मौलिक अन्तर है। यहां हमें सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि आत्महत्या क्या है ?

इच्छित वस्तु या व्यक्ति के नहीं मिलने पर उनमें जीवन के प्रति, घृणा उत्पन्न होती है। यही घृणा आत्महत्या का कारण बनती है जबकि सल्लेखनाधारी के मन में जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न नहीं होती है। वह तो मृत्यु को जीवन का अनिवार्य अंग मानता है। सल्लेखनाधारी के मन में जीवन के प्रति, अगाध प्रेम भी नहीं होता, अपितु वह जीवन और मृत्यु के प्रति समभाव धारण करता है। ऐसी स्थिति में ही उसका श्रामण्य सफल होता है। आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी के अनुसार– **जीविद मरणे समो समणो** अर्थात् श्रमण जीवन और मरण में सम रहता है।

सल्लेखना, व्यक्ति के विघटन का दुःखद परिणाम नहीं है क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सल्लेखनाधारी सुख और शान्ति का अनुभव करता है। वह शारीरिक दुःख को कर्म का परित्याग मानते हुए उस दुःख से छुटकारा पाने के लिए सुख और दुःख में समताभाव धारण करता है। जबकि आत्महत्या करने वाला दुःखों से घबड़ाकर अपनी इहलीला समाप्त कर लेता है। वह कर्म की शक्ति को मानता ही नहीं कि वे फिर उदय में आयेंगे और तद्नुरूप फल देंगे। यह तो वैसा ही है जैसे कोई छह माह की सजा प्राप्त कैदी यदि दो दिन पहले ही जेल से भाग आये तो उसे पकड़े जाने पर दुगुनी सजा भोगनी पड़ती है।

सल्लेखनाधारी को मृत्यु का भय नहीं रहता वह तो उसे महोत्सव मानता है किन्तु आत्महत्या में भय प्रबल कारण होता है।

सल्लेखनाधारी आत्मकेन्द्रित होता है, वह स्वयं संयम को अंगीकार करता है। यदि पहले से संयमग्रहण कर रखा हो तो उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। जबकि आत्मघात असंयम और अविवेक के बीच होता है।

सल्लेखना में 'स्व' की प्रवृत्ति 'अहं' में केन्द्रित न होकर स्व की स्व में ही प्रवृत्ति होती है। उसकी भावना होती है– "मैं रहूँ आप में आपलीन सो करों होऊँ ज्यों निजाधीन।"

आत्महत्या में स्वयं व्यक्ति ही अपने आपको मारता है, वह इस कार्य में दूसरों की सहायता नहीं लेता है जबकि सल्लेखनाधारी अपनी आयु समीप जानकर अपने आचार्य आदि पद एवं शिष्य आदि का परिग्रह त्यागकर प्रयत्नपूर्वक निर्यपिकाचार्य की खोज करता है तथा गुरुजनों की शरण लेता है।

व्यक्ति आत्महत्या क्यों करता है? इसके विषय में विद्वानों ने कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। इन सिद्धान्तों के आधार पर भी सल्लेखना आत्महत्या सिद्ध नहीं होती। जैसे–कई बार व्यक्ति अपने जीवन में घुटन अनुभव करता है, उसे जीवन एवं संसार नीरस लगने लगता है। ऐसे समय उसकी अज्ञात इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती और वह आत्महत्या कर लेता हैं। सल्लेखनाधारी को संसार नीरस अवश्य लगता है किन्तु वह किसी अज्ञात इच्छा पूर्ति हेतु शरीर का परित्याग नहीं करता अपितु उसकी एक मात्र इच्छा आत्मोपलब्धि होती है। सल्लेखनाधारी को इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इच्छापूर्ति में कोई सन्देह नहीं रहता।

- आत्महत्या तीव्र कषाय के परिणाम स्वरूप होती है जबकि सल्लेखना कषायों के कृश करने पर होती है।
- आत्महत्या करने के लिए उद्यत व्यक्ति फाँसी लगाने, जहर खाने, कुएं में कूद पड़ने एवं शरीर घात आदि की स्थिति के तुरन्त बाद ही छटपटाने लगता है कि कोई उसे बचा ले, जबकि सल्लेखनाधारी सल्लेखनाकाल में आनन्दित होता है उसके चेहरे और मन में सन्तोष तथा समता का भाव स्पष्ट झलकता है।
- आत्महत्या के प्रमुख कारणों में घुटन, तनाव, इच्छाओं की पूर्ति न होना, अपेक्षित वस्तु और व्यक्तियों का न मिलना, सम्पत्ति का छिन जाना, हानि हो जाना, व्यसन की तीव्रता व पूर्ति के साधन का न मिलना, बेकारी, असफल प्रेम, प्रिय का वियोग, लक्ष्य की असफलता तथा अपेक्षित परिणाम की प्राप्ति न होना, जर, जोरू और जमीन सम्बन्धी विवाद प्रमुख होते हैं, जबकि सल्लेखनाधारी इन सब भौतिक साधनों व व्यवहारों से ममत्व हटाकर त्यागपूर्वक मरण को प्राप्त होता है।
- जिसने आत्महत्या की है उसके शरीर में विकृति के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं यथा–आँख तथा जीभ का बाहर निकलना, मुँह से झाग निकलना, वीर्य तथा मल बाहर आ जाना आदि। किन्तु सल्लेखनाधारी का मृत शरीर इन सब विकृतियों से रहित होता है।
- समाज उन्हीं बातों या कार्यों को मान्यता देती है जो अहिंसक हों। आत्महत्या में प्रत्यक्ष हिंसा होने के कारण समाज व कानून तथा नैतिकता इसकी अनुमति नहीं देती जबकि सल्लेखनाधारी अहिंसा की सिद्धि के लिए सल्लेखना ग्रहण करता है, इसलिए उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।
- आत्महत्या का विचार क्षणिक होता है। यदि इच्छित वस्तु मिल जाये तो आत्महत्या का विचार समाप्त हो जाता है किन्तु सल्लेखनाधारी का लक्ष्य व विचार उत्कृष्ट होने के कारण वह आजीवन उसका निर्वाह करता है। इसी सदी में हुए पू. आचार्यश्री 108 शान्तिसागर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जी महाराज इसके यशस्वी प्रमाण हैं, जिन्होंने 12 वर्ष पर्यन्त की भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना को ग्रहण किया और उनके अन्दर ग्लानि का भाव नहीं आया जबकि पूर्व में आत्महत्या के लिए उद्यत हुआ व्यक्ति उसका स्मरण भी नहीं करना चाहता।

- कई बार व्यक्ति बाह्य परिस्थितियों जैसे युद्ध, अकाल, तलाक, दीर्घ बीमारी, प्रिय वियोग, अनिष्ट संयोग आदि से पीड़ित होकर आत्महत्या कर लेता है, जबकि सल्लेखनाधारी के इनमें से कुछ कारण हो सकते है किन्तु वह उनसे पीड़ित अनुभव न कर इन्हें कर्म का परिपाक मानता हुआ समताभावपूर्वक देह त्याग करता है।
- कभी–कभी शारीरिक कमियॉ जैसे अन्धा होना, बहरा होना, अपंग होना, कुरूप होना आदि हीनता की भावना पैदा करते हैं और व्यक्ति आत्महत्या कर बैठता है। सल्लेखनाधारी के इनके कारण हीनता की भावना पैदा नहीं होती अपितु वह इन शारीरिक स्थितियों को कर्मजन्य दोष मानता है तथा शारीरिक कमियों के कारण जब उसे संयम विघात नजर आता है, तभी सल्लेखना धारण करता है। आत्महत्या करने वाला तो प्रमादी है, अतः संयम की रक्षा का भाव भी उसके मन में नहीं आता। बीमारी की स्थिति में सल्लेखक का भाव संयम की रक्षा का होता है।
- आत्महत्या के मूल में व्रत नहीं होते, जबकि सल्लेखना के मूल में व्रतों की सम्पन्नता है।
- आत्महत्या कर्म पुरुषार्थ के प्रति पलायनवादी दृष्टिकोण है, जबकि सल्लेखनाधारी पुरुषार्थ के प्रति सचेष्ट शरीर न होने के कारण उसका त्याग करता है।
- व्यसनों से आक्रान्त व्यक्ति आत्महत्या कर लेते हैं, जबकि सल्लेखनाधारी समस्त व्यसनों का त्याग कर देता है, उसका मनोबल उच्च होता है।
- आत्महत्या वाला सक्षम शरीर का भी विसर्जन कर देता है, किन्तु सल्लेखनाधारी कृश शरीर को संयम की रक्षा न करने योग्य रहने के कारण छोड़ता है क्योंकि वह आत्मिक पुष्टता चाहता जिसके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग्य शरीर भी आवश्यक होता है।

- मानसिक तनाव जैसे चिन्ता, भय, मानसिक अस्थिरता, निराशा, क्रोध तथा भावुकता आदि आत्महत्या को प्रेरित करते है जबकि सल्लेखनाधारी मानसिक तनावों से ग्रसित नहीं होता है, अपितु परिग्रहादि त्यागने से, क्षमाभाव धारण करने से उसके तनाव दूर हो जाते हैं।

- कभी--कभी पारिवारिक परिस्थितियॉ आत्महत्या को प्रेरित करती है। जैनधर्म पारिवारिक उलझनों से बचने के लिए धर्माचरण का उपदेश देता है, न कि सीधे सल्लेखना धारण करने का। हॉ धर्माचरण करते हुए वह व्रत पालन करते हुए सल्लेखना का अभ्यास कर सकता है।

- प्रेम या रोमांस की असफलता आत्महत्या का कारण बनती है, किन्तु धर्म तो राग को नष्ट करने या कम करने पर बल देता है। प्रेम असफल रहने पर सीधे सल्लेखना धारण करने का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

- जैनधर्म की धार्मिक परम्परा भी आत्माहत्या को प्रोत्साहित नहीं करती है, वरन् हिंसक कृत्य मानतीं है। सल्लेखना को भी कोई रूढ़ि वश अंगीकार नहीं करता अपितु मरण समय में अनिवार्य धार्मिक कृत्य के रूप में विवेकी सल्लेखना को अपनाता है।

- जैनधर्म में पाप से बचने के लिए आत्महत्या का निषेध किया है। क्योंकि इससे परिणाम कलुषित होने के कारण नरक और निर्यञ्च आयु का बन्ध होता है। आत्महत्या करने वाला हिंसा के दोष का भागी होता है, क्योंकि प्रमाद के योग से अपने और दूसरे के द्रव्य और भावप्राणों का विनाश करना हिंसा माना गया है। सल्लेखना में प्रमाद का योग नहीं होता।

- मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि मनुष्य का आक्रामक व्यवहार ही हत्या अथवा आत्महत्या के रूप में प्रकट होता है। सल्लेखनाधारी आक्रामक स्वभाव वाला नहीं होता है। सल्लेखनाधारी कदाचित् आक्रामक होता है तो अपने कर्मों पर ही होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- आत्महत्या के आधार सामाजिक कारक हैं, जबकि सल्लेखना का आधार व्यक्ति है। आत्महत्या रोकने के लिए कानून बनें हैं, सजा का प्रावधान है, किन्तु सल्लेखना रोकने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, इसलिए इसे उक्त कानून के अन्तर्गत नहीं रखा।
- आत्महत्या मानव की दयनीय स्थिति की चरमावस्था है ऐसा करने वाला व्यक्ति सहानुभूति का पात्र है। सल्लेखक दयनीय स्थिति में नहीं होता उसे किसी की सहानुभूति की भी अपेक्षा नहीं होती।
- आत्महत्या एक प्रकार का पागलपन है जबकि सल्लेखना पागलपन न होकर बुद्धिमानी है। आत्महत्या परावलम्बन है जबकि सल्लेखना स्वाबलम्बन है।
- कभी–कभी आत्महत्या करने वाला यह सोच भी नहीं पाता कि वह ऐसा क्यों कर रहा है? जबकि सल्लेखनाधारी को यह पता रहता है कि वह सल्लेखना क्यों धारण कर रहा है?
- पारिवारिक एवं सामाजिक जन आत्महत्या पर रोक लगाते हैं, जबकि सल्लेखना के लिए वे प्रोत्साहित करते हैं।

उक्त बिन्दुओं पर विचार करने के बाद हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सल्लेखना आत्महत्या नहीं है। दोनों में मरण को देखकर जो लोग एक जैसा मानते हैं, वे भ्रम में हैं। जिस प्रकार सूर्योदय के समय की लालिमा और सूर्यास्त के समय की लालिमा एक जैसी दिखाई देती है, किन्तु एक जैसी प्रभावी नहीं होती। जहाँ सूर्योदय के समय की लालिमा प्रकाश की ओर ले जाती है वही सूर्यास्त के समय की लालिमा अन्धकार की ओर ले जाती है। वास्तव में सल्लेखना सूर्योदय के समय की लालिमा है जिसका लक्ष्य आत्मप्रकाश है, जबकि आत्महत्या सूर्यास्त के समय की लालिमा है जिसका ध्येय जीवनान्धकार है।

अतः श्रेयस्कर है कि आत्महत्या के कारणों से लड़ें और व्रताचरण के साथ अन्त में सल्लेखना का उपार्जन करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसे लिखा गया 'अध्यात्म अमृत कलश'

❑ नीरज जैन

मुझे आचार्य अमृतचन्द्र महराज के समयसार कलशों का स्वाध्याय करने की बड़ी लालसा थी। मेरे संतोष के लायक कोई हिन्दी अनुवाद उपलब्ध नहीं था इसलिए मैंने पण्डित जी से निवेदन किया कि वे मेरे लिए इन कलशों का भाषानुवाद कर दें।

उन्होंने अनेक बार आश्वासन देकर भी वह लेखन प्रारंभ तक नहीं किया। एक दिन मैं लगभग 1 बजे रात को कटनी में स्टेशन की ओर जा रहा था। मैनें देखा कि विद्यालय में उनका कमरा खुला है और बत्ती जल रही है। सहज ही मैं उनकी ओर मुड़ गया और उन्हें उस नीरव रात्रि में कुछ लिखते हुए देखकर मुझे लगा शायद मेरे लिए ही वे कलश अनुवाद का लेखन कर रहे हैं।

झांककर देखने पर पता चला कि वे विद्यालय के खाते की खतौनी कर रहे थे। मुझे बड़ी निराशा हुई और मैं वहीं उनसे लड़ बैठा। मैनें कहा कि – यह मामूली सा काम, जिसे कोई भी कर सकता है उसे करने के लिए आपके पास आधी रात को भी समय है किन्तु मेरे लिए शास्त्र का अर्थ करने के लिये आपके पास समय नहीं है?

उस दिन मेरी धृष्टता को उन्होंने शांति पूर्वक सहा और मुझसे ही अलमारी के ऊपर का एक पेकेट खुलवाकर एक कोरा रजिस्टर निकलवाया। उसी समय उसके पहिले पृष्ठ पर समयसार कलश का मंगलाचरण लिखकर मुझे दिखाते हुए बड़े प्रेम से समझाकर कहा – भैया! नाराज मत होओ। देखो, अब मैंने लिखना आरंभ कर दिया है। जल्दी तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी।

यह दिसम्बर 1968 की बात है। पांच छह वर्ष उस लेखन में लगे और फिर दो तीन वर्ष छपने में लगे। इस प्रकार मेरी बालहट के परिणाम स्वरूप पण्डितजी का प्रथम और अंतिम मौलिक ग्रन्थ प्रश्नोत्तर की सुन्दर एवं आधुनिक विधा में "अध्यात्म अमृत कलश" 1977 में प्रकाशित हुआ।

पं.जी ने जीवन में पढ़ा चिंतन बहुत, लिखा बहुत कम और अध्यात्म जैसे विषय पर ऐसा लिखा कि उपरोक्त ग्रन्थ के 3 संस्करण हो चुके हैं। उन्होंने ग्रन्थ की प्रस्तावना में प्रशस्ति में बहुत वात्सल्य पूर्वक इसका उल्लेख किया है। इसे मैं अपनी बहुत बड़ी उपलब्धि मानता हूं और अपने प्रति पण्डित जी के पितृतुल्य वात्सल्य का प्रमाण पत्र मानता हूं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी पावन लेखनी
का
प्रसाद

- आत्म–धर्म की प्राप्ति ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है
  –पं. जगन्मोहनलाल सिद्धान्ताचार्य
- पुण्य स्मरण – गुरुवर गोपालदास जी बैरया
  –पं. जगन्मोहनलाल सिद्धान्ताचार्य
- वर्तमान का इतिहास आवश्यक है
  –पं. जगन्मोहनलाल सिद्धान्ताचार्य
- चार अनुयोग और उनकी सार्थकता
- सोनगढ़ 3.10.1972

"पण्डित जगन्मोहनलाल जी के सैकड़ों लेखों में से, उनकी धारणाओं के प्रतीक स्वरूप उपरोक्त लेख एवम् डायरी के पन्ने प्रस्तुत किये जा रहे हैं। यह उनकी लेखनी के प्रति हमारी श्रद्धांञ्जली है।"

–सम्पादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्म - धर्म की प्राप्ति ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है

❑ *पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री*

'वत्थु सहावो धम्मो' इस व्याख्या के अनुसार धर्म तो वस्तु मात्र में पाया जाता है। तथापि अचेतन पदार्थ स्वभाव में हो या विभाव में उसे कोई इसका ज्ञान नहीं है। आत्मा ही एक सचेतनद्रव्य है जो स्वभाव (धर्म) के विरूद्ध अवस्था में दुःख पाता है। अतः आत्मा के लिए उसके धर्म की चर्चा, उपदेश आदि दिया जाता है।

आत्म स्वभाव तो शक्ति रूप से सदा जीव में है, पर उसकी व्यक्ति नहीं है। स्वभाव पर–निमित्त में विभाव रूप परिणत हो रहा है। उत्तम क्षमादि दश धर्म, रत्नत्रय स्वरूप धर्म, व्रतादिरूप धर्म, षडावश्यकरूप धर्म ये सब उस आत्म स्वभाव की प्रकटता में साधन है। ये भेदरूप हैं, वह शुद्ध स्वभाव अभेदरूप है। जो मुमुक्षु साधुजन हैं उनका तो सतत् प्रयत्न यही रहता है, तथापि श्रावक धर्म भी उसी धर्म की सीढ़ी है।

मानव पर्याय की समाप्ति के समय जो समाधिग्रहण की जाती है उसमें साधु और श्रावक का कोई भेद नहीं रहता है। वेद धर्म दोनों के लिए एक सा है। क्रम–क्रम से अन्न जलादि का त्याग तथा कषाय की कृषता–सर्व परिग्रह त्याग, सबसे मोह ममता का त्याग, प्रकारान्तर से अन्त समय की समाधि में सर्व परत्याग कर केवल स्वावलम्बन का उपदेश दोनों को है।

अपने जीवन काल में परजनों से सम्पर्क आया है, राग–द्वेष भी उत्पन्न हुए होंगे, अतः उन सबसे अपने अपराधों की क्षमा याचना करना तथा स्वयं भी किसी के प्रति कषाय न रखकर हृदय से क्षमाभाव स्वीकार करना समाधि का यथार्थ रूप है।

मरण तो अनिवार्य है। जन्म कुण्डली बनाने वाला उस बालक के जीवन की घटनाओं का उल्लेख कर यह भी लिखता है कि आयु इतनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पायेगा। प्रकारान्तर से जन्म की तरह मृत्यु भी सुनिश्चित कर देता है। सामान्य जन उसे अपनी जन्म कुण्डली कहते हैं, पर है वह मरण कुंडली। जन्म तो हो चुका, उसकी क्या कुण्डली ? वह तो किसी ज्योतिषी द्वारा निश्चित तिथि पर नहीं हुआ। जब हुआ तब उस पर से ही यथार्थ में वह उस व्यक्ति की मरण कुण्डली ही बनाता है। मरण अनिष्ट होने से उसे इष्ट शब्द के साथ जोड़ लेना, उसे जन्म कुण्डली कहते हैं।

कुछ कवियों का कथन है कि मरण सत्य है। वह अपनी अवस्थिति सदा रखता है। कभी उस मरण का अभाव न होगा। जन्म ही असत्य है, या अल्प सत्य है जो मिटने के बाद पुनः वह जन्म नहीं आता। जन्मान्तर ही होता है। यथार्थ में तो मरण का उत्तर फल जन्मान्तर है और जन्म का उत्तरफल मरण है। प्रकारान्तर से, अनादि से जन्म–मरण, पुनः जन्म–मरण, ऐसे चक्र में यह जीव चला आ रहा है। सबसे बड़ा दुख जन्म का भी है, और मरण का भी। कुछ ग्रन्थकारों ने तो यह भी लिखा है कि जन्म के दुख बहुत है। यह प्राणी मरण से भी इसीलिए डरता है कि अब जन्म लेना होगा और उन जन्म सम्बन्धी महान दुखों की पुनरावृत्ति होगी।

जो जन्म–मरण के चक्र से दूर होना चाहते हैं उन्हें अपना मरण काल सुधारना चाहिये। मरण तो होना ही है तब कुत्ते की मौत न मरकर वीरतापूर्वक जो धर्म साधनपूर्वक मरण करता है वह श्रेष्ठ मरण है। मरण वरदान हो सकता है यदि उस समय आत्मसाधना का पथ स्वीकार कर लिया जाय। एक कहावत है कि बिना मरे स्वर्ग नहीं मिलता। तो उससे भी आगे उस कहावत का अर्थ है कि बिना मरण के मुक्ति भी नहीं होती। मूलाचार के आधार पर तो श्रेष्ठ मरण 3 प्रकार का है। (1) बाल मरण, (2) बाल पंडित मरण और (3) पंडित मरण। इनमें जो सम्यग्दृष्टि (असंयत) का मरण है उसे बाल मरण कहते हैं, क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि होने पर भी असंयत होने से बाल (अज्ञान) हैं। यहाँ यह प्रश्न न उठाना चाहिये कि आगम में अन्यत्र सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी लिखा है, यहाँ अज्ञानी कैसे कहा ? इसका कारण आचार्यों की विवक्षा भेद है। वहाँ सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है। यहाँ यह विवक्षा है कि सब कुछ जानते हुए भी हिंसादि से विरक्त नहीं है 'अतः' संसार को प्राप्त है, अतः उस अवस्था का मरण बाल मरण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरा बाल--पंडित मरण– देशव्रती श्रावकों का है, क्योंकि वह एक देश विरत होने से पंडित (ज्ञानी) भी है, और एक देश अविरति होने से 'बाल' (अज्ञानी) भी है। फलतः श्रावक का मरण ''बाल–पंडित'' मरण है। तीसरा पंडित मरण संयमी जीवों का है, जो सकल पापों, सकल परिग्रहों से विरत होकर देह त्याग करते हैं वह पंडित (ज्ञानी का) मरण है।

श्रावक भी अन्त समय में यदि सर्व परिग्रह त्यागकर महाव्रत स्वीकार कर मरण (समाधि–मरण) करता है तो वह भी पंडित मरण कहा जायेगा। भगवान केवलि का देह त्याग मुक्ति का कारण है अतः उसे ''पंडित–पंडित मरण– की संज्ञा ग्रन्थकारों ने दी है। इन तीन प्रकार के या 4 प्रकार के मरणों की गण्यना श्रेष्ठ मरणों में है। इनमें प्रथम 3 तो स्वर्ग गति के हेतु हैं, पर चौथा पंडित–पंडित मरण मुक्तिगामी जीवों का ही होता है। यद्यपि बाकी सर्व साधारण संसारी प्राणियों का मरण भी मरण है, पर वह श्रेष्ठ नहीं है, अतः उसे ''बाल–बाल मरण'' भी ग्रन्थकारों ने कहा है। समाधिमरण के प्रकरण में उसका कोई स्थान नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि स्वयं 'बाल' है और असंयत होने से भी 'बाल' है। उनकी ''बाल–बाल'' संज्ञा है अतः उनका मरण ''बाल–बाल'' मरण है।

समाधिस्थ मुनि को 'आराधक'संज्ञा दी है क्योंकि वह उस समय शुद्धात्मक स्वरूप सिद्ध परमात्मा की आराधना करता है तथा स्वयं की शुद्धात्मा प्राप्ति की आराधना करता है। समाधि मरण करने वाला व्यक्ति संसार और शरीर के स्वरूप का चिन्तन करता है। उनकी यथार्थ स्थिति का, उनकी नश्वरता का बोध उस समय अवश्य जागता है। वह विचारता है कि संयुक्त पदार्थ का वियोग होता है यह सुनते, पढ़ते व श्रद्धान करते आये हो पर अब यह समय तो प्रत्यक्ष ही दर्शन करा रहा है कि इनका वियोग मुझसे, या मेरा वियोग इनसे होगा। ऐसी स्थिति में इन पदार्थों पर ममत्व रखना, विषयों की वांछा रखना, सर्वथा अहितकर है, यह जानकर इनका स्वयं त्याग कर आत्म–धर्म की साधना में तल्लीन होता है।

यद्यपि मरण काल में कष्ट बहुत होता है तथापि कष्ट का अनुभव भी हमेशा ज्ञान के आधार पर होता है। ज्ञानी पुरुष जब उस स्थिति की अनिवार्यता का अन्त कर अपने उपयोग को वहाँ से हटाकर बलात् उसे अपने स्वरूपदर्शन में लगाता है तो कष्टों का भी अनुभव नहीं होता और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

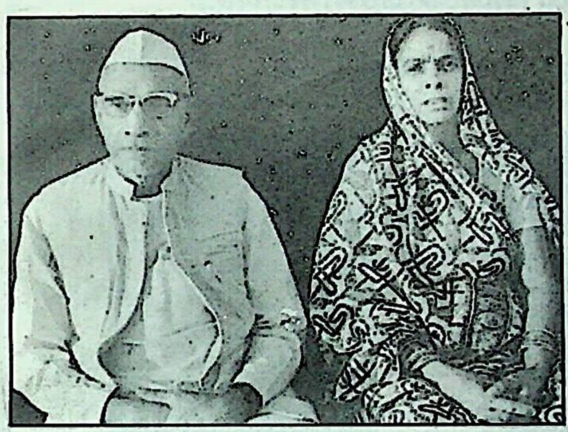

हमारे माता पिता

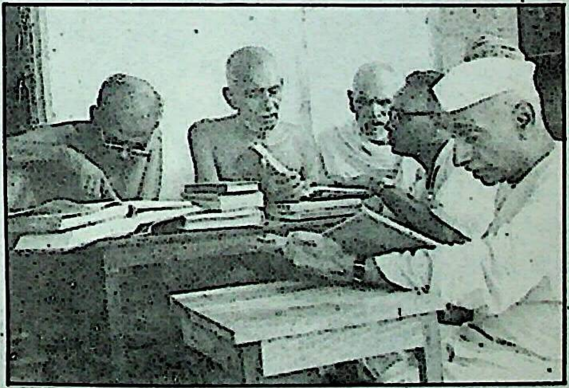

आगम वाचना टोड़ारायसिंह (राज.) सानिध्य आचार्यकल्प मुनि श्रुतसागरजी, मुनिश्री अजित सागरजी, ब्र.भगतजी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरकती पीढ़ी के सहयात्री

पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री

पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

पं. जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पं.जगन्मोहनलाल शास्त्री सम्मानित

नई दिल्ली, 14 जून-केन्द्रीयमन्त्री श्री शंकरराव चव्हाण ने आज यहाँ प्राचीन वाङ्मय के विद्वान् और स्वतंत्रता सेनानी 92 वर्षीय पं.जगन्मोहनलाल शास्त्री को कुन्द-कुन्द पुरस्कार से सम्मानित किया। उन्होंने इस अवसर पर अपील की कि देश में आतंकवाद मिटाने और शान्ति स्थापित करने के लिए सभी एक होकर काम करें। तालकटोरा स्टेडियम में हुए समारोह में पंडित जी ने पुरस्कार में मिली 51 हजार रु. की सम्मान राशि ज्ञान-दान में जुटी संस्था "निजज्ञान सागर शिक्षा कोष" को दान में दे दी।

इस अवसर पर आचार्य विद्यानन्द जी महाराज ने कहा कि जगन्मोहन लालजी ने बिना किसी भेदभाव के अनेक योग्य विद्वान् तैयार किए। उन्होंने कहा कि विद्वानों की कोई जाति नहीं होती और सभी उसका लाभ उठाते हैं।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् ने पंडित जी को शाल और स्वर्णपदक से सम्मानित किया।

स्वनामधन्य पण्डित जगंन्मोहनलाल जी शास्त्री प्राचीन परम्परा के उन बहुश्रुत विद्वानों में अन्यतम हैं, जिनकी बहुज्ञता और विद्वत्ता का लोहा समान रूप से सभी मानते हैं। यदि ज्ञान के स्वर्ण में चारित्र की सुगन्धि हो तो वह स्वर्ण अनर्घ्य और दिव्य कहलाता है। मान्य पंडित जी का जीवन ज्ञान की गरिमा से जितना उद्दीप्त है, उतना ही चारित्र के सौरभ से महकता भी है। उनके जीवन का प्रतिपल ज्ञान और आचार के संगम में अवगाहन करते हुए व्यतीत होता है।

आपने समाज सेवा करते हुए जो खट्टे-मीठे अनुभव अर्जित किये हैं, उनके संस्मरणों की संख्या विशाल है। ये संस्मरण जितने रोचक हैं उतने ही उद्बोधक भी हैं। आप जितने धर्मनिष्ठ हैं, उतने ही राष्ट्र-भक्त भी है। आप अपने स्वर्गीय पिताश्री के चरण-चिन्हों पर चलकर वर्षों से गृहविरत त्यागी के रूप में त्यागी-आश्रम कुण्डलपुर में आत्म साधना में निरत हैं।

भास्कर परिवार पण्डित जी के शतायु होने की कामना करता है।

सम्पादक जैन सिद्धान्त भास्कर

रियोदिजनोरो में आज ही पृथ्वी सम्मेलन हो रहा है। देश के प्रधानमंत्री उसमें भाग लेने गए हैं। उस सम्मेलन की चर्चा करते हुए पं.जी ने व्यक्त किया-

"प्रकृति स्वयं अपना संतुलन बनाये रखती है। यदि मनुष्य प्रकृति का संहार न करें तो यह सृष्टि अपने आप चलती है। वनों की अंधाधुंध कटाई एक इंद्रिय जीव का संहार तो है ही उसके साथ वनों के सहारे जीने वाले सैकड़ों प्रकार के पशु-पक्षियों का भी संहार हो रहा है। अनियंत्रित हिंसा का परिणाम पर्यावरण में असंतुलन है जिसकी चिंता आज पूरे विश्व को है।

अहिंसा सब धर्मों का मूल है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

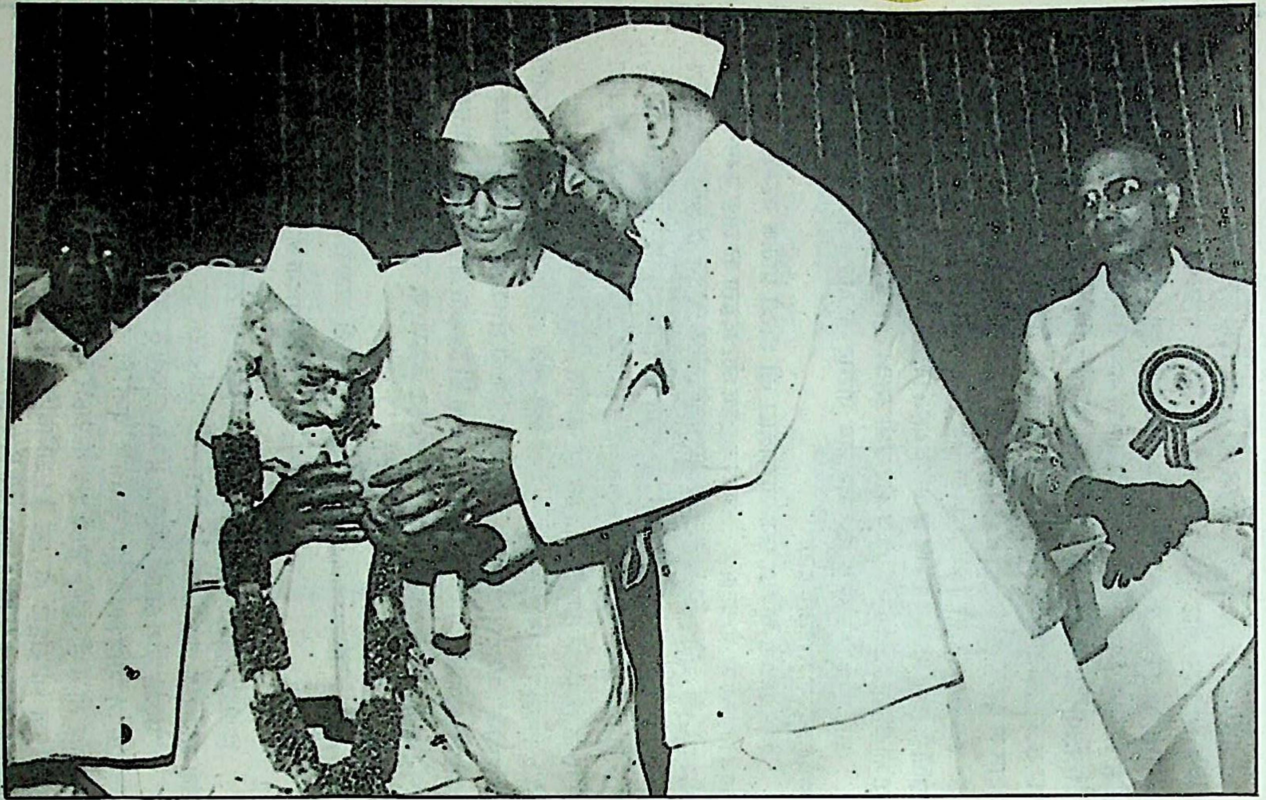

14 जून 1992 को केन्द्रीय गृहमंत्री श्री चव्हाण तालकटोरा स्टेडियम दिल्ली में पुरस्कार देते हुए / साथ में है (पीछे) श्री खुशाल गोरावाला (स्वतंत्रता सेनानी) एवम् श्री साहू रमेशचन्दजी (टाइम्स ऑफ इण्डिया), दाहिनी ओर खड़े हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

14 जून 1992 सम्मान समारोह ताल कटोरा इन्डोर स्टेडियम - देहली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

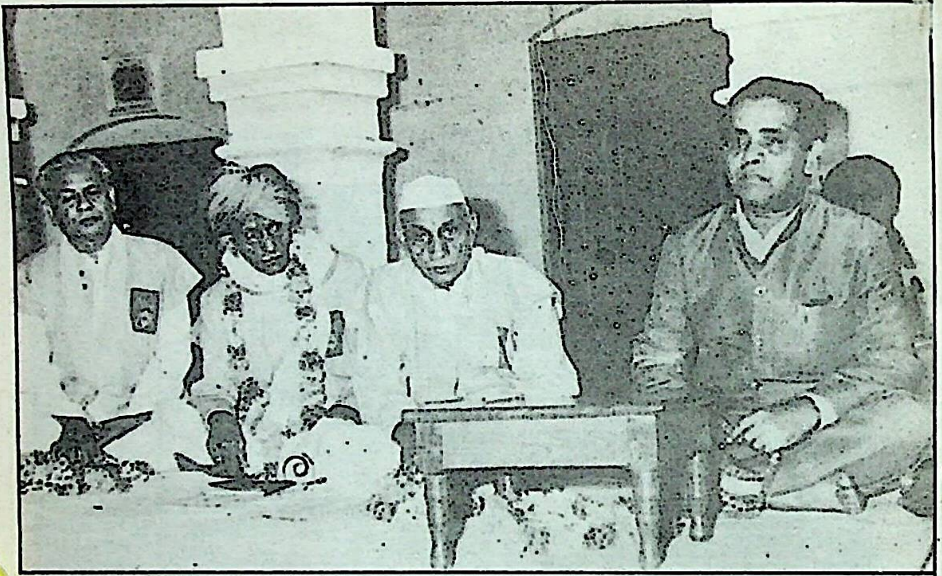

वीर निर्वाण भारती नई दिल्ली में आयोजित सम्मान समारोह (सन् 1975) में मुख्य अतिथि प्रकाशचंदजी सेठी, मुख्यमंत्री मध्यप्रदेश, पं.जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, पं.जिनदास जी एवं पं.दलसुख जी मालवाणिया।

पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री को प्रशस्ति-पत्र भेंट करते हुए मुख्य अतिथि श्री प्रकाशचन्दजी सेठी, मुख्यमंत्री मध्यप्रदेश, साथ में साहु शांतिप्रसादजी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उज्जवल पवित्र परिणामों से मरण कर उत्तम गति पाता है।

जो मरण समय परिणामों में संक्लेश–परिजनों से मोह, भोग–विषयों की वांछा, आगामी काल में वांछ रूप निदान करते है उनकी सुगति नहीं होती, दुर्गति ही होती है। यदि सम्यग्दृष्टि जीव भी मरण काल में कष्टों से घबराकर सम्यकत्व की विराधना करे तो दुर्गति ही होती है। यदि सम्यकत्व दशा में देवायु भी बॉध ली हो तो मिथ्यात्व के उदय आ जाने पर वह घातायुक्त होकर अपनी आयु का प्रमाण छीनकर के स्वर्गों में न जाकर भवनात्रिक में उत्पन्न होता है, उनसे भी हीन स्थिति वाला देव होता है।

यदि कदाचित् मुनि अवस्था का धारी भी अन्त समय साधना पथ से भ्रष्ट होता है और वह पूर्वबद्ध आयु कर्म के कारण स्वर्गों में भी उत्पन्न हो तो उत्तमदेव न होकर वह आभियोग्य जाती में उत्पन्न होकर उत्तम देवों का वाहन (हाथी) आदि बनकर जीवन भर उनको ढोने का कार्य करता है। किल्लिर्षिक जाति में उत्पन्न होकर दुरदुराया जाकर अपमान ही पाता है।

जो साधु भोजनादि में गव्हता करता है – यंत्र–मंत्र–तंत्र में उपयुक्त होता है। हास्यादि कर्म में समय व्यतीत करता है वह भी आभियोग्य जाति के देवों में उत्पन्न होकर हाथी, घोड़ा, मेष, भैंसा आदि रूप धारण कर उत्तम देवों की सेवा ही करता है। देव पर्याय पाकर भी पशु जीवन व्यतीत करता है। इसे ही देव गति में 'देव दुर्गति' कहते हैं।

इस परम पवित्र पर्यूषण या दश लाक्षणिक महापर्व में दश धर्म की आराधना कर अपनी साधना का प्रयत्न करते रहना चाहिये। एक बार उत्तमार्थ मरण साधने वाला जीव 7/8 भव से ज्यादा संसार में नहीं रुकता, नियम से मोक्ष का पात्र होता है यही परम पुरुषार्थ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरुवर गोपालदासजी बरैया

गुरुजी बहुत स्पष्टवक्ता और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। अपने सम्मान और देव–शास्त्र–गुरु की प्रतिष्ठा के विपरीत किसी की भी कोई बात वे सहन नहीं कर सकते थे। बात उन दिनों की है जब मोरैना विद्यालय के स्थायित्व के लिये गुरुजी चिन्तित रहते थे। समाज प्रमुख व्यक्तियों से उन्होंने इसके लिए प्रेरणा भी की। एक बार उन्हें इन्दौर जाकर सरसेठ हुकमचन्दजी से कुछ सहायता लाने की प्रेरणा हुई और वे इन्दौर पहुंच गये। शक्कर बाजार के मन्दिर में उनका प्रवचन हुआ जिसमें सरसेठ साहब भी उपस्थित हुवे।

पण्डितजी गोमटसार के पण्डित के रूप में प्रख्यात थे। उस समय के लिए यह एक नया और दुरूह विषय माना जा सकता था इसलिये गुरुजी को प्रायः "गोमटसार का पण्डित" कहा जाता था। उन दिनों गुरुजी को मूत्राशय का कुछ विकार रहता था अतः उन्हें बार–बार लघुशंका के लिये जाना पड़ता था और कुछ देर तक बैठना पड़ता था। प्रवचन के समय भी जब वे लघुशंका के लिये गये तब कुछ देर लगी। सरसेठ साहब ने इस विलम्ब पर व्यंग में उनसे कह दिया – "क्यों पण्डितजी, क्या वहां गोमटसार की कोई गाथा याद आ गई थी ? बहुत देर लगी ?"

सरसेठ साहब का व्यंग सुनकर पण्डितजी की आत्मा तिलमिला उठी। जिनवाणी के संदर्भ में यह उक्ति उनसे बर्दास्त नहीं हुई। अपने आप को वे रोक नहीं सके और उसी समय उन्होंने गरज कर उत्तर दिया – "हुकमचन्द, अपनी सम्पदा का तुम्हें इतना घमण्ड है ? माता जिनवाणी के अपमान का भी तुम्हें भय नहीं है। गोम्मटसार क्या ऐसे समय स्मरण की वस्तु है। तुम्हारा द्रव्य जैनविद्या के प्रसार में लगाना उचित नहीं होगा। हमें कोई दान नहीं चाहिये। " कहकर पण्डितजी ने उसी दिन, बिना कोई सहायता लिये, इन्दौर से प्रस्थान कर दिया। फिर कभी उन्होंने सेठ साहब से कोई सहायता नहीं ली। यह घटना मैंने मोरेना विद्यालय में पढ़नार्थ गया तब सुनी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरुवर बरैयाजी के निधन के उपरान्त विद्यालय के अधिकारियों ने विद्यालय की सहायता के लिये सरसेठ साहब से अनुदान प्राप्त करने का विचार किया। शिक्षकों और छात्रों का जो प्रतिनिधि मण्डल इस अभिप्राय से मौरैना से इन्दौर भेजा गया, हमें भी उसमें जाने का अवसर मिला। सेठ साहब ने सौजन्य के साथ प्रतिनिधि मण्डल को भेंट देते हुवे विद्यालय के ध्रुवफण्ड में दस हजार की राशि प्रदान की। इस घटना में गुरुजी के स्वाभिमानी व्यक्तित्व की झलक तो मिलती ही है, सरसेठ साहब के सौजन्य और शील का भी दर्शन होता है।

वाणीभूषण पण्डित तुलसीरामजी

पं.तुलसीरामजी काव्यतीर्थ काशी विद्यालय के छात्र थे पर मोरैना में मेरे सहपाठी थे। वे बड़े प्रतिभावान छात्र थे। विद्यार्थी अवस्था में भी वे संस्कृत के आशुकवि माने जाते थे। तत्काल श्लोक रचना करते हुये पद्य में ही धाराप्रवाह भाषण देना उनके लिये एक आसान सी बात थी। बोलते भी बहुत अच्छा थे। समाज ने उनकी वक्तृता के सम्मान में उन्हें ''वाणी-भूषण'' की उपाधि से मण्डित किया। बड़ौत को उन्होंने अपना कर्म-क्षेत्र बनाया।

गुरुजी के निधन के उपरान्त मोरैना विद्यालय के लिये सरसेठ हुकमचन्दजी से अनुदान की मांग करने जो प्रतिनिधि मण्डल इन्दौर गया, उसमें हम दोनों को भी शामिल किया गया था। इन्दौर से लौटते समय किसी स्टेशन पर उनके एक संस्कृतज्ञ मित्र मिले और वार्ता के दौरान उन्होंने तुलसीरामजी से मेरा परिचय पूछ लिया। उत्तर में तुलसीरामजी ने तत्काल एक अनुष्टुप् गढ़ कर उन्हें मेरा परिचय दिया। वह श्लोक आज भी मेरी स्मृति में है –

जगन्मोहन लालसी जगन्मोहयते सदा।
तेनासौ जगतिख्यातो जगन्मोहन नामतः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीयुत पण्डित जगन्मोहनलाल जी

इच्छाकार। बहुत काल से मन में कल्पना आती थी जो आपको मनोव्यथा लिखूं। दिगम्बर जैन का इतिहास द्रुतगति से लिखा जावे। 1000.00 मासिक व्यय किया जावे। यह रुपये सागर, कटनी, जबलपुर की पंचायत देवे। कार्य बनारस से हो, जों पण्डित काम करें उन्हें 100.00 घण्टा दिया जावे। काम का तकाजा न किया जावे। अध्यक्ष आप रहें। अभी चार पण्डित वहाँ हैं, उनसे नम्रता–पूर्वक कहा जावे– "आपको यह काम करना पड़ेगा।" कल्पना करो प्रत्येक पण्डित दो घण्टे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

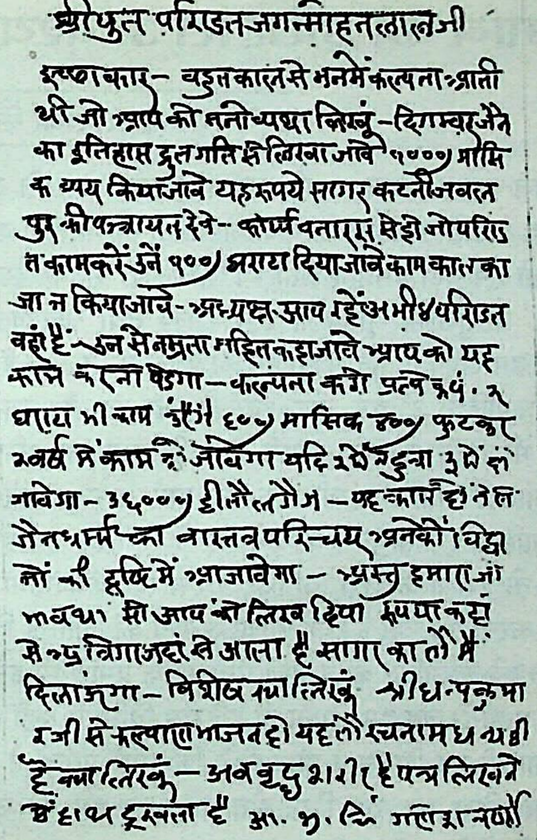
श्रीयुत पण्डित जगन्मोहनलाल जी

इच्छाकार – बहुत कालसे मनमें कल्पना आती थी जो आप को मनोव्यथा लिखूं – दिगम्बर जैन का इतिहास द्रुतगति से लिखा जावे १०००) मासिक व्यय किया जावे यह रुपये सागर कटनी जबलपुर की पञ्चायत देवे – कोई बनारस से दो जो पण्डित काम करें उन्हें १००) भराया दिया जावे काम काल का जा न किया जावे – अध्यक्ष आप रहें अभी ४ पण्डित वहां हैं – उन से नम्रता सहित कहा जावे आप को यह काम करना पड़ेगा – कल्पना करो प्रत्येक रु. २ धाय भी काम करेंगे ६००) मासिक ४००) फुटकर २ वर्ष में काम हो जावेगा यदि २ में न हुआ ३ में हो जावेगा – ३६०००) ही तो लगेंगे – यह कार्य होने से जैनधर्म का वास्तव परिचय अनेकों विद्वानों की दृष्टि में आ जावेगा – अस्तु हमारा जो भाव था सो आप को लिख दिया रुपया कहां से आवेगा जहां से आता है सागर का तो मैं दिलाऊंगा – विशेष क्या लिखूं श्री धन्यकुमार जी से कल्याण भाजन हो यह तो स्वनामधन्य ही है क्या लिखूं – अब वृद्ध शरीर है पत्र लिखने में हाथ दुखता है आ. शु. चि. गणेश वर्णी

भी काम करेंगे, 600.00 मासिक हुआ। 400.00 फुटकर। दो वर्ष में काम हो जावेगा। यदि दो में न हुआ तो तीन में हो जावेगा। 36000.00 ही तो लगेंगे। यह काम होने से जैनधर्म का वास्तविक परिचय अनेकों विद्वानों की दृष्टि में आ जावेगा। अस्तु।

हमारा जो भाव था सो आपको लिख दिया। रुपया कहाँ से आवेगा, जहाँ से आता है। सागर का तो मैं दिलाऊंगा। विशेष क्या लिखूं। श्री धन्यकुमार जी से कल्याण भाजन हो। यह तो स्वनामधन्य ही है, क्या लिखूं? अब वृद्ध शरीर है, पत्र लिखने में हाथ दुखता है।

श्रावण सुदी 7. सं. 2013

आपका शुभचिन्तक,
गणेश वर्णी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्तमान का इतिहास आवश्यक है

❑ पं.जगन्मोहनलालजी सिद्धान्ताचार्य

आज हमारा समाज अपने प्राचीन इतिहास के प्रति उत्सुक और जिज्ञासु हो उठा है। इतिहास का यदि कोई छोटा सा भी स्रोत कहीं उपलब्ध हो जाय तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। शिलालेख, प्रतिमा लेख, ग्रन्थों की पुष्पिकाएं, वास्तुकला, मूर्तिकला और शिल्प तथा लोकगीतों आदि के माध्यम से हम अपने अतीत में झांकने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह प्रयास पिछली दो पीढ़ियों से बड़े जोर–शोर से चल रहा है। इसमें हमें कुछ सफलता भी मिली है। यह हमारी इसी जिज्ञासा का परिणाम है कि सातवीं–आठवीं शताब्दी ईस्वी तक का प्रायः क्रमबद्ध इतिहास अपने समाज, साहित्य एवं साधुवर्ग का हमें मिलने लगा है, पर, इसके पूर्व के प्रमाण या तो पुराणों के द्वारा, या फिर पारम्परिक किंवदंतियों के द्वारा ही हमें मान्य करना पड़ रहा है। यह आशा अवश्य की जाती है कि उस काल के इतिवृत्त को उद्घाटित करने वाले ऐतिहासिक प्रमाण भी हमें देर–सबेर अवश्य प्राप्त होंगे। जब हम अपना ही इतिहास विधिवत् कहीं अंकित नहीं पाते तब हमारी यह शिकायत ठीक ही है कि हमारे पूर्वजों ने अपने काल का इतिहास लिख कर रख दिया होता तो आज हमें यह उलझन और भटकन नहीं होती।

इस परिप्रेक्ष्य में हमें इसके प्रति भी सावधान रहना चाहिये कि कहीं ऐसा ही अन्याय हम अपनी आने वाली पीढ़ी के साथ तो नहीं कर रहे। यदि हम यह विचार करें कि क्या वर्तमान इतिहास को प्रामाणिक रूप से लिपिबद्ध करने की व्यवस्था हमारी पीढ़ी ने की है, तो उत्तर कोई आशाजनक या उत्साह–वर्द्धक नहीं होगा। आनेवाली पीढ़ी को सही दिशा–ज्ञान देने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि वर्तमान काल की सारी इतिहास योग्य सामग्री को लिपिबद्ध करके रखने की परम्परा बनाई जाय। वर्तमान शताब्दी में हमारी समाज में दानवीर सेठ माणिकचन्दजी, सेठ मूलचन्दजी सोनी, सरसेठ हुकमचन्दजी, सेठ जम्बूप्रसादजी, श्री देवीसहायजी, मुंशी चम्पतरायजी, बैरिष्टर चम्पतरायजी, गुरुवर गोपालदासजी बरैया, ब्र.शीतलप्रसादजी, ब्र.बाबा गोकुलप्रसादजी, श्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
दीपचन्दजी वर्णी, पूज्यश्री गणेशप्रसादजी वर्णी, बाबा भागीरथजी वर्णी, श्री जिनेन्द्रजी वर्णी और सहजानन्दजी वर्णी, तथा विद्वानों में न्यायाचार्य पं. पन्नालालजी, पं. गौरीलालजी, पं.प्यारेलालजी, पं.माणिकचन्दजी कौन्देय,पं.देवकीनन्दनजी, न्यायालंकार पं.वंशीधरजी, पं.राजेन्द्रकुमारजी, पं.मक्खनलालजी, पं.गजाधर प्रसादजी, पं.खूबचन्दजी, पं.लालारामजी, पं.के.भुजबली शास्त्री, पं.महेन्द्रकुमारजी, तर्कतीर्थ पं.झम्मनलालजी, श्री नाथूराम प्रेमी, श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार, श्री बुद्धिलालजी श्रावक, डॉ.ए.एन.उपाध्ये, डॉ.हीरालालजी, पं.कैलाशचन्दजी, पं.पन्नालालजी साहित्याचार्य और पं.फूलचन्दजी आदि सरस्वती के आराधकों तथा चारित्र–चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी, आचार्य वीरसागरजी, आचार्य शिवसागरजी आदि तपस्वियों, विद्वानों और महापुरुषों का इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता है। इसके लिये अभी हमारे सामने पर्याप्त और विश्वस्त सामग्री भी उपलब्ध है। इसी प्रकार सामाजिक संस्थाओं, जातीय सभाओं और संगठनों, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, दिगम्बर जैन परिषद, शास्त्रार्थ संघ, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई प्रान्तिक दिगम्बर जैन सभा और दक्षिण भारत दिगम्बर जैन सभा आदि संस्थाओं तथा जैनमित्र, जैन गजट, जैन महिलादर्श, जैन सन्देश, जैन दर्शन, अनेकान्त, जैन सिद्धान्त भास्कर आदि समाचार पत्रों एवं शोध पत्र–पत्रिकाओं का इतिहास लिखना भी उतना ही आवश्यक है। समय–समय पर होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं, गजरथ महोत्सवों तथा नूतन मन्दिरों की कलापूर्ण सामग्री भी इतिहास की सामग्री हो सकती है। सिद्धक्षेत्रों, अतिशयक्षेत्रों तथा अन्य कलापूर्ण क्षेत्रों–मन्दिरों को भी उसमें लिया जा सकता है। जैन पर्व, जैन उत्सव और धार्मिक परम्पराओं का लेखा भी उसका अंग हो सकता है।

महिलाओं में श्री मगनबाई, श्री चन्दाबाई, ब्र.सुमतिबाई तथा आर्यिका माताओं में पार्श्वमती माताजी, ज्ञानमती माताजी, विशुद्धमती माताजी तथा आदिमती माताजी जैसी विदुषी माताओं का इतिहास नारी समाज के लिये प्रेरणा का अक्षय कोश सिद्ध होगा। वे कवि और साहित्यकार जिन्होंने अपने बुद्धि–वैभव से समाज के उत्थान में योग दिया है, वे लेखक और अनुवादक जिन्होंने जैन साहित्य के विस्तार में योग दिया है, उन सबका व्यक्तित्व और कृतित्व भी लिपिबद्ध किया जाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये। और भी ऐसे अनेक व्यक्ति तथा अनेक विषय हैं, या हो सकते हैं, जिनका समावेश इतिहास में किया जाना चाहिये।

यदि इस दिशा में कोई विस्तृत योजना बनाकर दिगम्बर जैन महासमिति अपनी आंचलिक समितियों और जिला/नगर इकाइयों के माध्यम से उन–उन स्थानों में सक्षम व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करके योजनाबद्ध प्रयास करे तो दो–चार वर्षो में सहज ही यह कार्य कराया जा सकता है। तथ्यों के संकलन के बाद, भाषा और इतिहास के जानकार कुछ व्यक्तियों की समितियां बनाकर उसका लेखन/सम्पादन कराया जा सकता है। ऐसे निस्पृह और निष्पक्ष लेखक विद्वान् जो किसी की प्रतिष्ठा बनाने–गिराने, या किसी की निन्दा–प्रशंसा की भावना से दूर हों, जो इतिहास के प्रति निष्ठावान हों, उनकी सहायता लेकर यह कार्य सम्पन्न करना आज असंभव नहीं है। स्रोतों के नष्ट या विश्रुत–विलुप्त हो जाने पर कल यही काम असंभव हो जायेगा।

यदि इस दिशा में समय रहते कोई काम हो सका तो वह हमारी अगली पीढ़ी को प्रेरणा देगा, इतिहास लेखन की परम्परा को स्थायित्व देगा और समाज की समुन्नति का हेतु बनता हुआ प्रभावना में सहकारी होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार अनुयोग और उनकी सार्थकता

द्रव्य श्रुत का ही मद होता है भाव श्रुत का नहीं

- भाव श्रुत वह है जिससे आत्मोत्कर्ष हो।
- धर्म ध्यान की स्थिति में होने वाले परिणामों से यद्यपि पुण्यबंध होता है तथापि वे परिणाम ही योगी के लिए जब वे निर्विकल्प समाधि में स्थिर नहीं रह पाते–पतन से बचने के लिए आलंबन भूत है तथा उन परिणामों से ही योगी पुनः शुद्धोपयोग पर रूढ़ होता है।
- जिनवाणी के स्वाध्याय से ही शुभ ध्यान में आरूढ़ हुआ जा सकता है।

धर्मध्यान के चार भेद हैं - (1) आज्ञाविचय (2) अपायविचय (3) विपाकविचय (4) संस्थान विचय।

- प्रथमानुयोग के स्वाध्याय से व्यक्ति अपायों से बचता है उसे अपायविचय धर्मध्यान हो सकता है।
- चरणानुयोग के स्वाध्याय से जिनेन्द्र की क्या आज्ञा है, किस प्रकार चलना चाहिये इसके चिन्तन स्वरूप आज्ञा विचय धर्मध्यान हो सकता है।
- करणानुयोग के स्वाध्याय से कर्म के विविध विपाकों और उसके फलस्वरूप जीव के विविध गतियों में, स्थानों में गमनागमन के विचार रूप विपाक विचय और संस्थान विचय धर्मध्यान होते हैं।
- द्रव्यानुयोग से आत्मा के शुद्ध स्वरूप चिन्तन स्वरूप शुक्लध्यान की भूमिका बनती है। इस तरह का स्वाध्याय शुक्ल ध्यान के हेतु है।
- प्रथमानुयोग के स्वाध्याय से पापों से विरक्ति होंकर प्रशमभाव जागता है।
- चरणानुयोग के स्वाध्याय से "अनुकम्पा" प्राणियों पर दया का भाव जागता है।
- करणानुयोग के स्वाध्याय से कर्म के विविध विपाक और फलों का बोध कर संसार से संवेग उत्पन्न होता है।
- द्रव्यानुयोग के स्वाध्याय से समस्त द्रव्यों की स्थिति के बोध से आत्मा के शुद्ध अस्तित्व का बोध होकर आस्तिक्य गुण प्रगट होता है जो कि निश्चय सम्यग्दर्शन का रूप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- प्रशम–संवेग–अनुकम्पा तो मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि जीव में जाग सकते हैं पर सही दृष्टि से आस्तिक्य गुण केवल सम्यग्दृष्टी में ही जागता है पर जिसमें उससे प्रशम–संवेग–अनुकम्पा ये गुण अवश्य रहेंगे। फलतः आत्म कल्याण के लिए निश्चयतः सम्यग्दर्शन अनिवार्य है और उसके लिए चारों अनुयोगों का स्वाध्याय अत्यंत आवश्यक है।
- बाह्य परिग्रह के तथा विषय कषायों के साधनों के त्याग के बिना अंतः में वीतरागभाव नहीं आते। यह हो सकता है कि बाह्य साधन छूट जाय और वीतराग भाव न भी आवें, पर ऐसा कदापि संभव नहीं है कि अन्तरंग में वीतराग भाव की स्थिति हो और बाह्य परिग्रह भी साथ रहे विषय कषायों की सामग्री का भी आलंबन न छोड़े।
- स्वाध्याय का अर्थ स्वयं के लिए बोध करना है। वह सरल है, सुगम है, स्वाधीन है। पर को समझाना कठिन है, दुर्गम है, पराधीन है। तीर्थंकर प्रकृति का भी उत्कृष्ट बंध संक्लेष परिणामों से होते हैं–मन्द परिणामों से अनुत्कृष्ट बंध होता है।
- पर को समझाने की चेष्टा करना खतरे की चीज है क्योंकि यदि नय विनियोजन ठीक न कर सके और श्रोताओं को वस्तु तत्व का विपरीत बोध वक्ता की नय अनभिज्ञता या उसके अकुशल प्रयोग से हो जाय तो श्रोताओं को मिथ्यामार्ग में ले जाने का भी पाप वक्ता को होता है। वक्ता प्रभावक भी हो सकता है और प्रकाशक भी हो सकता है।
- भोगभूमि के मनुष्य उपस्थित भोगों में निमग्न रहते हुए भी मन्दकषायी होते हैं तथापि देशव्रती महाव्रती नहीं बन सकते। व्रती बनने के लिए संसार–देह–और भोगों के प्रति अरुचि परिणाम होना आवश्यक है। उनको ही देशव्रत महाव्रत हो सकते हैं।

वर्तमान में समाज और ज्ञानियों में समझदारी होकर भी पाई जाने वाली विषमता द्रव्यश्रुत ज्ञान के अहंकार का परिणाम है अन्यथा अनेकान्त की दिव्य औषधि का पान करने वाले जिन धर्मियों में नय की पक्षपातता पूर्वक पारस्परिक अवात्सल्यता जो सम्यग्दर्शन का दूषण है नहीं हो सकती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोनगढ़ - 3.10.72

नोट :– सोनगढ़ यात्रा में पं.जी एवं श्री कानजी स्वामी की वार्तालाप में कुछ प्रश्नोत्तर :–

प्रश्न (पं.जी) – आपने सम्यकत्व का मार्ग प्रशस्त किया, अब क्या आप चारित्र को प्रकाश में लाने की इस जीवन में इच्छा रखते हैं ?

उत्तर (स्वामी जी) – पहिले सम्यक्‌दर्शन हो तब चारित्र की बात आती है।

प्रश्न – सम्यकत्व तो आपको हुवा है इससे उक्त प्रश्न है।

उत्तर – नक्खी नहीं। सम्यकत्व की महिमा आना और वर्णन करना अलग बात है सम्यग्दर्शन होना अलग वात है। चारित्र धारण के योग्य संहनन और शरीर मेरा अब रहा नहीं। जन्मान्तर में धारण होगा। बिना चारित्र मुक्ति नहीं होती।

मुनिधर्म की दीक्षा संबंधी चर्चा करने पर कहा कि जिनको आत्मा के अखण्ड चैतन्य ज्ञानान्दमयी ध्रुव स्वभाव की खवर नहीं उनको चारित्र यथार्थ नहीं होता।

प्रश्न – क्या आपकी दृष्टि ऐसी है कि दिगम्वर, श्वेताम्वर, स्थानकवासी तीनों जैन सम्प्रदाय हैं। इनमें क्रिया आचरण के भेद से भेद पड़ा है, जैन तत्वज्ञान तो एक ही है अतः तत्वज्ञान का प्रसार किया जाय। भेद के कारणभूत वाह्य क्रिया काण्ड को छोड़ दिया जाय ?

उत्तर – नहीं। श्वेताम्बर और स्थानकवासी जैन है ही। नहीं उनमें हजारों भूल है। मैनें समस्त श्वेताम्वर साहित्य और दिगम्वर शास्त्र उस अवस्था में पढ़े जब मुख पट्टी लगाता था तव ही उसका भेद समझ लिया था। मुझे लगता था कि दिगम्वर ही अपना जैन पंथ है। दिगम्बर जैन आगम में ही तत्वज्ञान है अन्यत्र कहीं नहीं। सच्चा जिनमार्ग दिगम्वर ही है श्वेतांवर मान्यता सब झूठी कल्पित है।

प्रश्न – जन्म जयन्ती मनाना क्या उचित है।

उत्तर – भगवान की जन्म जयन्ती लोग मनाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्न – उनका जन्म अजन्मा था अतः लोग मनाते हैं पर हम–आपको अपना जन्म दिवस मनाना क्या जन्म व शरीर का राग नहीं है।

उत्तर – है – और उसका मनाना उचित नहीं है।

प्रश्न – शुद्धोपयोग क्या है?

उत्तर – जब अखण्ड चेतन्यानंद रागादि रहित शुद्ध आत्मद्रव्य पर उपयोग जाता है तब वह शुद्धोपयोग होता है किन्तु शुद्धपरिणति अनंतानु व मिथात्वरहित अव्रत सम्यग्दृष्टि को भी होती है। परणति सम्यकत्व काल में सदा शुद्ध रहती है। उपयोग कभी, शुभोपयोग कभी अशुभोपयोग और कभी शुद्धोपयोग भी होता है। पर–परणति शुद्ध परणति ही होती है।

प्रश्न – सातिषय मिथ्यादृष्टि के तो शुभोपयोग हो सकता है तब संवर निर्जरा कैसे होती है?

उत्तर – उसकी परिणति शुद्ध होती है शुद्धोपयोग नहीं उसका प्रयत्न है।

प्रश्न – शुद्धोपयोग का प्रारंभ कहां से है? और उसका क्या अर्थ है?

उत्तर – शुद्धआत्म द्रव्य पर उपयोग वह शुद्धोपयोग है उस समय उपयोग में रागादि नहीं है।

प्रश्न – उपयोग एक समय में एक होगा या मिश्रित?

उत्तर – एक समय में एक ही होगा।

प्रश्न – वाणी का केवलज्ञान से क्या संबंध है? वह जड़ है ज्ञान चेतन। तब असंबद्ध दशा में ज्ञान के ज्ञेयों का वर्णन वाणी कैसे करती है जबकि वे .....है?

उत्तर – खानिया तत्व चर्चा में आपने इसका उत्तर लिखा है और वही इसका उत्तर है। योग्यता वाणी की तत्वप्रकाशन की स्वयं की है। ज्ञान ज्ञानी की निज वस्तु है। जड़ चेतन का संबंध नहीं केवल निमित्त नैमित्तिक संबंध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मृति पुञ्ज

कुण्डलपुर में 105 दिन।
श्री अमरचन्द जैन, सतना

✧

जो भुलाये नहीं भूलता।
श्री अमरचन्द जैन, सतना

✧

पिताजी की प्रथम और अंतिम कुण्डलपुर यात्रा।
श्री अमरचन्द जैन, सतना

✧

मैं, उनका सातवां बेटा।
श्री नीरज जैन, सतना

✧

पिताजी का समाधिमरण : कुछ स्मृतियाँ
श्री सिद्धार्थ कुमार जैन, सतना

✧

स्मृतियों को प्रणाम
सिंघई जयकुमार जैन, अमरपाटन

✧

समाधि के शिखर पर जगन्मोहनलाल जी
ब्र. त्रिलोक जैन, जबलपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुण्डलपुर में (१०५ दिन)

❑ अमरचन्द्र जैन

जून 24 1995	दोपहर कुण्डलपुर पहुंचे।
जून 25	आचार्यश्री की वंदना तथा समाधि की प्रार्थना।
जून 26	आचार्यश्री का एक क्रमशः भुक्ति पर आने का निर्देश।
जून 29	भोजन 1 रोटी (4 ग्रास) दलिया/चॉवल/तरकारी।
जुलाई 6	आचार्यश्री का भोजन की मात्रा में पेय/जलीय पदार्थ अधिक लेने का निर्देश।
जुलाई 15	शाम को मात्र दूध और जल।
जुलाई 25	दवा का त्याग।
जुलाई 26	शाम को दूध का त्याग मात्र जल।
जुलाई 29	शाम को जल का भी त्याग।
अगस्त	1 बार भोजन एवं पानी – भोजन जलीय पदार्थ अधिक।
अगस्त मास	वात का तीव्र प्रकोप – बाह्य उपचार से दूर करने का प्रयास।
सितंवर	मट्ठा का प्रयोग तथा तरल पदार्थों का, सब्जी का, भोजन और ठोस (रोटी आदि बंद) आहार बंद–गर्मी का वातावरण।
सितंवर	ज्वर का तीव्र प्रकोप लगातार 5 दिन/मट्ठा से अरुचि फिर भी लेते रहे। ज्वर का शमन होने की प्रतीक्षा। गर्मी से वेदना अधिक।
1 अक्टूवर	गले में कफांश--धर्मशाला का कमरा छोड़ तालाब के किनारे कमरे में सबसे क्षमा याचना करके आगमन।
2 अक्टूवर	शांति विधान का आयोजन -- गर्मी का प्रकोप अधिक कुछ सब्जी/जल कंठ से नीचे जाने में अवरोध।
4 अक्टूवर	ज्वर से अशक्त--जल कंठ के नीचे न जाना तीव्र गर्मी। ठंडे पानी तथा गीली मट्टी से उपचार।
6 अक्टूवर	गला रुंध जाने से तथा पानी पेट में न पहुंचने से तीव्र वेदना, ठंडे पानी की पट्टी का उपचार।
7 अक्टूवर	हड्डियों का ढांचा मात्र पतली चमड़ी में सिकुड़ कर रह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गया अतः आचार्यश्री के निर्देशानुसार चादर की झोली में ले जाकर देव दर्शन पूजन तथा आचार्यश्री की वंदना कराई। जल का भी त्याग। तीन छुल्लक दीक्षाएं आचार्यश्री द्वारा/दोपहर 12--12।। बजे शारीरिक हालत में गिरावट, श्वांस रुक--रुक कर, आचार्यश्री को संकेत। आचार्यश्री का साधुओं सहित दोपहर की सामायिक पं. जी के साथ सम्पन्न। गीले कपड़े से शरीर का उपचार -- शाम 6.15 पर मुनि 108 श्री समाधि सागर जी का आगमन। पं.जी को शाम की सामायिक के लिए सावधान किया और पंचनमस्कार मंत्र की जाप आरंभ। नाड़ी छूटने का आभास/आचार्यश्री को संदेश/पंचनमस्कार मंत्र का समवेत उच्चारण उपस्थित साधुओं श्रावकों द्वारा/आचार्यश्री का आगमन परस्पर मौन अवलोकन वंदना कर 7 बजे शाम समाधि।

इस तरह 24 जून कुंडलपुर आगमन से 7 अक्टूबर महाप्रयाण तक 105 दिन की अंतिम यात्रा बड़े बाबा के चरणों में समाधि सम्राट आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी के सानिध्य में उनके संघ के सानिध्य में पंचनमस्कार मंत्र जपते शांति एवं समता पूर्वक पं.जी ने देह छोड़ी।

जन्म – 6.8.1901 सावन सुदी 12 वि. सं. 1958

स्वर्गवास – 7.10.1995 क्वांर सुदी 14 वि. सं. 2052
94 वर्ष 2 माह 1 दिन की आयु पाई।

दिन – शनिवार (चतुर्दशी)

तिथि – अश्विनी सुदी 14–वि.स. 2052 शरद पूर्णिमा की पूर्व संध्या।

स्थान – कुंडलपूर क्षेत्र श्री श्रीधर केवली की निर्वाण भूमि।

योग – सर्वार्थ सिद्धि।

सानिध्य – आचार्य 108 श्री विद्यासागर ससंघ।

समय – गोधूलि बेला – संध्या 7 बजे

8 अक्टूबर 1995 – सुबह 6:30 बजे – अस्थि विर्सजन (छहधरिया के रास्ते पर्वत की तलहटी में) 10 अक्टूबर को परिवार का कुंडलपुर से कटनी प्रस्थान 108 दिन बाद।

"मृत्यु महोत्सव" शांति विधान कटनी में 20.11.95 को सम्पन्न।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो भुलाये नहीं भूलता

❑ श्री अमरचन्द्र जैन

जब मैं प्रायमरी का विद्यार्थी था तभी मेरी जन्मदात्री पूज्या माँ का स्वर्गवास हो गया था, अतः मुझे माँ का प्यार भी अपने पूज्य पिता पं.जगन्मोहनालालजी से मिला। बचपन में हम भाई-बहिनों का पालन-पोषण हमारी मौसी (स.सिं.धन्यकुमारजी की माँ) ने किया।

पिताजी संस्कृत के विद्वान थे। अतः उनकी हार्दिक इच्छा थी कि मैं संस्कृत पढ़ूं। तद्नुसार मैंने भी मैट्रिक तक संस्कृत शिक्षा प्राप्त की, किन्तु आगे योग नहीं बना।

सन् 1942 के "करो या मरो" आन्दोलन के समय मैं मैट्रिक का विद्यार्थी था। उस समय कटनी के थानेदार का बेटा हमारा सहपाठी था, अतः वहाँ से कागज, स्कूल से साइक्लोस्टाइल मशीन और आदर्श प्रेस से स्याही मांगकर रात के अन्धेरे में पर्चे छापना और दिन में जुलूस निकालकर नारे आदि लगाना हम लोगों का प्रायः प्रतिदिन का काम था।

देशभक्ति के कारण पिता जी स्वतन्त्रता संग्राम आन्दोलन में स्वंय भाग लेते थे और दूसरों को भी निरन्तर उत्साहित करते थे। इस क्रम में उन्होंने मुझे भी आगे आने के लिये कहा, किन्तु वे कोई भी कार्य चोरी-छिपे करने के पक्ष में नहीं थे। अतः एक दिन पिता जी ने कहा – **"क्या चोरों की तरह रात को पर्चे छापने और चिपकाने का काम करते हो। यदि स्वतंत्रता संग्राम में कूंदने का साहस हो तो सरेआम सत्याग्रह करो और जेल जाओ।"**

पिताजी के इस कथन का मेरे ऊपर यह प्रभाव पड़ा कि मैं अब खुले रूप में सामने आ गया, किन्तु हाय री पुलिस! पकड़कर थाने ले जाती और पांच-सात घंटे बाद छोड़ देती।

पढ़ाई-लिखाई विशेष नहीं हुई, किन्तु परीक्षा दी और मैं मैट्रिक में उत्तीर्ण हो गया। पिताजी मुझे योग्य और स्वावलम्बी देखना चाहते थे, अतः उन्होंने मुझे एक दिन वाराणसी जाने वाली रेलगाड़ी में बैठा दिया और पूज्य चाचा स्वर्गीय पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के नाम लिखा एक पत्र हाथ में दे दिया, जिसमें चाचाजी को सम्बोधित करते हुये लिखा था –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अमरचन्द्र के आगे पढ़ने का बन्दोबस्त कर देना।"

पूज्य चाचाजी ने मुझे और स्व.भाई सुपार्श्वकुमार को एक साथ हिन्दू विश्वविद्यालय में बी.काम में प्रवेश दिला दिया। उस समय वहां स्व. सर एस. राधाकृष्णन् कुलपति थे। उन्हीं दिनों श्रद्धेय महामना मदनमोहन मालवीय जी का स्वर्गवास हुआ था।

पिताजी राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित थे, इस कारण मेरे अन्दर भी देशभक्ति के संस्कार तो बचपन से थे ही। पिताजी के प्रोत्साहन और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी शिक्षा संस्था के युवा मित्रों का साथ मिलने से मेरा उत्साह द्विगुणित हो गया। उस समय विश्वविद्यालय के छात्रों में विदेशी सरकार के प्रति तीव्र रोष था, अतः छात्रों ने हिन्दू यूनिवर्सिटी पार्लियामेंट की स्थापना की और उसी के अन्तर्गत इक्कीस छात्रों की टोली पूज्य गांधी जी के सान्निध्य में रचनात्मक कार्यो की ट्रेनिंग लेने के लिये सेवाग्राम (वर्धा) गई। मैं भी उस टोली का एक सदस्य था। उस समय वहां काका कालेलकर, विनोबा भावे, आर्यनयकम् और श्री श्रीमन्नारायण आदि महापुरुषों के साथ रहने का अवसर मिला तथा निकट से उनके विचारों को सुनने और उनका आदर्श जीवन देखने को भी मिला।

पिताजी जहां मुझे योग्य देखना चाहते थे, वहीं वे मुझे यौवनसुलभ बुराइयों से भी बचने के लिये निरन्तर प्रेरणा देते रहते थे। जब मैं सेवाग्राम में रचनात्मक कार्यो की ट्रेनिंग ले रहा था, तभी मुझे पिता जी का एक पत्र मिला जिसमें उन्होंने मुझे अपने कर्तव्यों के प्रति सावधान करते हुये लिखा

कटनी

ता. 2.11.45

प्रिय अमर,

.....मुझे वहाँ तुम्हें भेजने से प्रसन्नता हुई। मेरी हार्दिक आकांक्षा थी कि अपने देश के प्रमुख पुरुषों के सम्पर्क से एक बार तुम अपने को उन्नत भावना वाला बना सको। वहां केवल सोसायटी के आनन्द में मग्न होकर इसे एक शौक की और सहयोगियों में केवल डींग हॉकने की चीज न बनाओगे, बल्कि इस स्वर्ण अवसर से लाभ उठाकर अपने देश की ठोस सेवा करने की भावना लेकर आओगे। जिसमें न कीर्ति की वासना होगी, न पक्षपात व असहिष्णुता की गंध, ऐसी मुझे आशा है।

अपने व अपने कुटुम्ब के पेट पालने के अतिरिक्त मानव का और भी कुछ कर्तव्य है, वह क्या है? यह तुम वहां से सबक सीखोगे। विशेष क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

[illegible]

[illegible] २.११.४६

प्रिय अमर! प्रसन्न रहो। पत्र मिला समाचार जाने।

तुम्हें वहाँ जमने में अंजन से प्रसन्नता हुई। मेरी हार्दिक आकांक्षा थी कि आपने देश के प्रमुख पुरुषों के सम्पर्क से एक बार तुम अपने को उन्नत भावना वाला बना सको। वहाँ केवल मनोरंजन दृष्टि के आनन्द में मग्न होकर इस रचनात्मक और सहयोगियों में केवल डींग हाँकने की चीज न बन आओगे, बल्कि इस स्वभाविक

से लाभ उठाकर आपने देश की ठोस सेवा करने की भावना लेकर आओगे जिससे न केवल प्रसन्नता होगी न [illegible] की गंध ऐसी कुछ आशा है। अपने व अपने कुटुंब के पेट पालन के अतिरिक्त [illegible] का कोई कुछ कर्तव्य है, वह क्या है? यह तुम वहीं से सब कुछ सीखोगे। विशेष क्या।

POST CARD

ADDRESS ONLY

12.15 P.M

To

भाई अमरचन्द्र जैन विद्यार्थी
B. H. U.
C/o खादी विद्यालय
पो. सेवाग्राम (वर्धा)
Sewagram (Wardha)

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि पिताजी ने यह पत्र मेरे लिये लगभग पचास वर्ष पूर्व लिखा था, किन्तु आज भी प्रत्येक आदर्श पिता अपनी सन्तान के लिये इससे अधिक और क्या सोच सकता है ? यह पत्र देश स्वतन्त्र होने से पूर्व एक विशेष अवसर पर लिखा गया था, किन्तु इसकी प्रासंगिकता आज भी उतनी ही बनी हुई है और प्रत्येक छात्र के लिये मननीय और अनुकरणीय भी है।

काशी में अध्ययन करते समय स्व.चाचा पं.कैलाशचन्द्र जी शास्त्री मेरे अभिभावक थे। वे अत्यन्त अनुशासनप्रिय थे, अतः अनुशासन के चौखटे में रहकर ही मेरा कॉलेज जीवन व्यतीत हुआ। मैं अनेक बड़े--बड़े नेताओं एवं महापुरुषों के सम्पर्क में आया। पत्रों द्वारा पिताजी का मार्गदर्शन और प्रोत्साहन मिलता ही था।

पूज्य पिताजी ने अपने छात्र जीवन में इसी काशी में अध्ययन करते हुये सन् 1920 से 1922 तक राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी के आह्वान पर असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर सरकारी परीक्षाओं का बहिष्कार किया। अंग्रेज सरकार के विरोध में बुलेटिन और अखवार निकाले।

पिता जी पत्रों के द्वारा मुझे देश, समाज और गुरुजनों के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन हेतु समय- समय पर निर्देश देते रहे। एक बार मुझे पिता जी ने लिखा -

''कष्ट अनुभव करके भी जीवनपथ पर बढ़ना मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है, तुममें दृढ़ता होनी चाहिये।''

सन् 1945 में इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् पिताजी ने मेरे विवाह की चर्चा--चलाई, किन्तु मैनें इसका विरोध किया, क्योंकि मैं आगे अध्ययन करना चाहता था। किन्तु पिताजी के तर्कों और घर की परिस्थितियों के कारण मेरा विरोध टिक न सका। इस संकट निवारण के लिये मेरे पैर ग्वारीघाट की ओर बढ़ गये जहां उस समय पूज्य क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी विराजमान थे। वहां मैंने उन्हें अपनी स्थिति स्पष्ट की कि मैं पढ़ना चाहता हूं और पिताजी मेरा विवाह...।

वहां से मैं पिताजी के नाम पूज्य वर्णीजी महाराज का एक आदेशात्मक पत्र लेकर लौटा, जिसमें वर्णीजी ने पिताजी को दो वर्ष तक मेरा विवाह नहीं करने का आदेश दिया था। फिर पिताजी ने दो वर्षो तक इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की। पिताजी द्वारा गुरु–आज्ञा का इस प्रकार पालन करने से मेरे मन में गुरुजनों के प्रति अत्यधिक श्रद्धा एवं सम्मान की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावना जाग्रत हो गई।

सन् 1947 में पूज्य स्व.गुरुवर्य पं.देवकीनंदन जी सिद्धान्तशास्त्री गुरुकुल के संबंध में खुरई आये तथा पिताजी को विचार–विमर्श के लिये बुलाया। वहाँ श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमार जी खुरई की बहिन का रिश्ता मेरी तरफ कर देने की बात उन्होंने तथा पू.बाई जी ने तय की और पिताजी को सुना दी। गुरु–आज्ञा हमारी परम्परा में हमेशा शिरोधार्य रहीं है। अतः पिताजी ने भी सहमति दे दी। पू.वर्णी जी के आदेशानुसार दो साल विवाह टालने की अवधि समाप्त हो चुकी थी। पिताजी ने यह गुरु–आज्ञा कई माध्यमों से मेरे पास पहुंचायी।

इस गुरु–भक्ति एवं संकट की स्थिति से मेरा हृदय पिघल गया। मैं खुरई गया। स्वीकृति दी और जिस कन्या का चुनाव गुरुजी ने मेरे लिए किया था वह जीवन संगिनी मेरे परिवार के अनुरूप सारी परम्परा एवं मर्यादा का निर्वाह करते हुए दुखः–सुख में आज भी साथ दे रही है। जीवन के इस संध्याकाल में मैं गुरुजी का आदरपूर्वक पुण्य स्मरण करता हूं।

विवाह के बाद भी मैं दो वर्षो तक इलाहाबाद में पढ़ता रहा। अब तक देश आजाद हो चुका था, किन्तु परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं। ऐसी स्थिति में पिताजी ने मेरा साहस बढ़ाने के लिये मुझे लिखा – "अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये कष्ट उठाना, परिश्रम करना ही जवानी है।" साथ में माँ की ममता भी पत्र में थी। उन्होंने आगे लिखा था – "तुम मेरे जीवन के प्रकाश हो। तुम्हारे कष्ट की बात सुनकर मेरा जी अशान्त हो जाता है।" एक ओर मुझे साहसपूर्वक उद्देश्य पूर्ति के लिये प्रेरित करना और दूसरी ओर मेरे कष्टों को सुनकर स्वंय अधीर हो जाना। कैसी विचित्र स्थिति थी।

पिताजी मेरे अध्ययन की समाप्ति और घर लौटने की प्रतीक्षा करते रहे, जिससे वे निःशल्य हो अध्यात्म–मार्ग में आगे बढ़ सकें। सन् 1947 में इलाहाबाद में मेरा अध्ययन चल रहा था और पिता जी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने हेतु छटपटा रहे थे। तभी उन्होंने मुझे लिखा –

...आखिर एक दिन तो आत्महित के में, हम–तुम, सबको लगना ही पड़ेगा। पशुवत जीवन–मरण व्यतीत करना तो अधमता है। ...जो कुल को पवित्र बनाए वह पुत्र है। मुझे तुमसे बहुत आशाएं हैं। वैराग्यमय जीवन आनन्दमय जीवन है। वह उदास और नैराश्यपूर्ण जीवन नहीं है, उल्लासमय है। उसमें उस महान् उन्नति की आकांक्षा छिपी है, जिसके लिए पूर्ण प्रयत्न करना है। केवल विषय–कषायों से ही विमुक्त होना है। सारांशतः वह मेरा पुनः विद्यार्थी जीवन होगा और तब होगा तुम्हारा गार्हस्थिक जीवन प्रारम्भ। अदलावट–बदलावट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
होगी। बॉकी और कुछ नहीं। अपने ध्येय की पूर्ति में पूर्ण प्रयत्न करो, उसकी सफलता पर सब कुछ है। .....बहुत मार्ग मिलेंगे। हॉं, यह अवश्य है कि मैं चाहता हूं कि तुम अपनी पारिवारिक जिम्मेदारी की तरह धार्मिक व सामाजिक जिम्मेवारी को समझने योग्य बनो। आत्मोन्नति का मार्ग उसी तरफ से गया है। मैं अपनी 51 वीं वर्षगांठ के प्रारम्भ समय तक तुम सबका साथ इसी रूप में दूंगा। उसके बाद अपने पूज्य पिता का अनुकरण करूंगा। मेरा ऐसा विचार है। तब तक तुम भार वहन करने योग्य हो सकोगे।...

मेरे इलाहाबाद से पढ़कर घर पहुंचने तथा गृहस्थी के भार संभालने की प्रतीक्षा में पिता जी ने 49 वर्ष की अवस्था में अपने आत्महित की बात लिखी तथा मुझे धार्मिक, सामाजिक जिम्मेवारी समझने की प्रेरणा दी। और अब शुरु हुआ मेरा गार्हस्थिक जीवन। सतना में प्राइवेट बैंक का कार्य सम्भाला। सादा जीवन उच्च विचार, कर्तव्य परायणता, धार्मिक प्रवृत्ति तथा विद्वानों का आदर जैसे विषयों का पाठ पढ़ाने वाले पिताजी के पत्र 1950 से 1955 तक सतना आते रहे।

इसी मध्य पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज का ईसरी को जाते समय सतना में आगमन हुआ और वहां से प्रस्थान करने के बाद 10 मील पर रास्ता रोककर मैं खड़ा हो गया। उनके पैर छुए तथा निवेदन किया – "बाबा जी! मैं आजन्म रात्रि भोजन (अन्न) का त्याग करता हूं।" आर्शीवाद देते हुये बाबा जी ने कहा – "भैया! जीवन में सुख प्राप्त करने के लिये पीछे देखा करो आगे नहीं।" और बाबा जी द्वारा प्रदत्त इस सूत्र से मैंने जीवन भर सुख और सन्तोष प्राप्त किया, अपने से पीछे बैठे लोगों को देखकर।

जीवन में पहिली बार अपनी योग्यता और कार्यक्षमता को परखने परदेश (कलकत्ता) सर्विस करने चला गया। प्रायः दश वर्षो तक कलकत्ता में आजीविका चलाई।

कलकत्ता में कार्य करते हुये समय–समय पर भिन्न–भिन्न प्रकार की समस्यायें सामने आती रहीं। मैं विचलित होता तो पिताजी के पत्र आते। भाई नीरज के भी सतना के पत्र आते जिनसे मेरा स्थितिकरण होता रहा।

बाबू छोटेलालजी सरावगी (बेलगछिंया, कलकत्ता) का हमारे ऊपर बड़ा स्नेह था। उनके निधन से मैं थोड़ा विचलित हो गया। तभी पिताजी ने लिखा --

".....पर का सहारा सदा दुःखदायी ही सिद्ध होता है, जहां संयोग में सुख है, वहां वियोग में दुःख निश्चित है। यदि किसी को इष्ट मानोगे तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके वियोग में दुःख होगा ही। यदि किसी को अनिष्ट मानोगे तो कभी न कभी उसके संयोग में दुःख होगा ही। सच्चा उपाय तो यह है कि किसी को इष्ट और अनिष्ट ही न मानना। तत्वज्ञान सही जागता रहे तो सुख और दुःख कभी नहीं होते, साम्यावस्था रहती है, जिसे आत्मिक सुख ही मानना चाहिये।''

इसी बीच पिता जी के ऐसे भी पत्र आते रहे – ''इतवार को पूजन करना चाहिये। स्वाध्याय प्रतिदिन चाहे घर करो या मन्दिर में। एक बार णमोकारमंत्र की जापभी। संसार परिभ्रमण करने वाले को पञ्च परमेष्ठी और धर्म ही सहाई है।''

धर्म के प्रति निष्ठा, ईमानदारी तथा कर्तव्यपरायणता ने अपना सुफल भी दिया और मेरे चाहे स्थान जयपुर ट्रान्सफर हो गया। पुनः दिल्ली, चण्डीगढ़ और अहमदाबाद में 1966 से 1975 तक कार्यरत रहा। उत्तरोत्तर पदोन्नति भी होती गई।

जिस स्थान पर जाता दो बातें देखकर निवास तय करता – कुंआ और मंदिर पास हो। पिताजी मेरे पास आते रहते थे, अतः उनके व्रतों की साधना में शुद्ध भोजन तथा मंदिर की व्यवस्था नजदीक हो यह हमेशा ध्यान में रखता था।

चण्डीगढ़ में रहकर उन्होनें ''अध्यात्म अमृत कलश'' का लेखन पूर्ण किया। उनकी बातों में पारिवारिक झंझट से निवृत्त होने की छटपटाहट झलकती रहती। मेरे बार बार ट्रान्सफर से मेरे स्थायित्व की स्थिति नहीं बन पा रही थी और मैं अपने घर से दूर मजबूरी में जीवन व्यतीत करता रहा।

13.11.7। को पिताजी ने अपनी डायरी में लिखा – आज रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथाधार से सप्तम प्रतिमा पर्यन्त प्रतिमाओं को व्रतों रूप में स्वीकार किया मु.कटनी में चन्द्रप्रभु जिनालय में ऊपर भगवान् महावीर स्वामी की प्रतिमा के सम्मुख प्रातः भगवान महावीर निर्वाण पूजा के अनन्तर (भगवान् महावीर का 2500 वॉ निर्वाण दिवस)।

यहां यह ज्ञातव्य है कि पूज्य वर्णीजी के स्वर्गवास पर सन् 1961 में भाद्रपद कृष्णा एकादशी को पिताजी ने उनकी चिता पर चन्दन चढ़ाते हुए आजीवन ब्रह्मचर्य का संकल्प ले लिया था पर, पारिवारिक दायित्वों के कारण वे उस संकल्प को व्रत रूप में परिणत नहीं कर पाये थे। उन्होंने प्रायः सैंतालीस वर्ष पूर्व वि.संवत् 1985 में प.पू. चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी महराज से द्वितीय प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये थे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
और इतने सुदीर्घ अन्तराल के पश्चात् सप्तम प्रतिमा ग्रहण की।

मैं अहमदाबाद में मानसिक रूप से बहुत अस्तव्यस्त रहा। बहुत प्रयास किया कि कम्पनी चलती रहे, किन्तु संयोग ऐसा बना कि वह संस्थान बंद हो गया।

पिताजी ने उस अवसर पर मुझे लिखा - **"बुरे कामों से बचना और अच्छे कामों में लगना चारित्र है।"**

"सत्य से रहित मनुष्य की पूजा कैसे हो सकती है? न्याय से रहित पुरुष को लक्ष्मी कैसे प्राप्त हो सकती है? और ध्यान से रहित पुरुष को सिद्धि कैसे मिल सकती है?"

अतः जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा, श्रम से न्यायपूर्वक कमाया धन और जिनेन्द्रभक्ति से भरपूर जीवन सार्थक है।"

पिताजी की डायरी के एक पन्ने पर अब पढ़ा -- **"पुरुषार्थ में "पुरुष" शब्द है – उद्यमवाची। वही पुरुष, जिनके नाम पर पुरुषार्थ शब्द बना है, स्वयं भाग्य की बात करें इससे अधिक दुर्दशा क्या होगी?"**

1975 में अहमदाबाद छोड़कर खाली हाथ सतना आया था, किन्तु मन में इस बात की खुशी भी थी कि किसी का देना तो नहीं है और उसका शुभ परिणाम आज देखता हूं कि मैं और मेरे पुत्र-पौत्र एक छत के नीचे रह रहे हैं। पिताजी के वचनों के पालन करने का लाभ मिला। **मेरी इच्छओं और आवश्यकताओं ने मेरे आर्थिक साधनों का कभी अतिक्रमण नहीं किया।**

बड़े बेटे ने एम.फार्म. (M.Pharma) की उपाधि प्राप्त कर ली थी, अतः दवाइयों के निर्माण का कारखाना खोलने की योजना बनाई, और खोली भी। उस समय पूज्य पिताजी ने अपने पौत्रों को इस बात की शपथ दिलाई कि दवाइयों का मामला है, अतः इसे मात्र मुनाफे का साधन नहीं बनाओगे। दवाइयों की गुणवत्ता और उसकी मात्रा ठीक रखोगे। किसी के दुःख-दर्द के साथ खिलवाड़ न करोगे।

पूज्य पिताजी के उक्त निर्देश को व्रत के रूप में स्वीकार कर उनके पौत्रों ने बारह वर्षो तक कारखाना चलाया, किन्तु विशेष आर्थिक लाभ नहीं हुआ। अतः अपने बारह वर्षीय अनुभव के आधार पर पौत्रों ने अपने बाबा से स्पष्ट कह दिया कि **"दवा की गुणवत्ता और मात्रा को सन्तुलित रखकर मुनाफा नहीं कमाया जा सकता है।"** तब पिताजी ने पुनः अपने पौत्रों से कहा कि – **"दवाओं के निर्माण में कोई अनीति या हेरा-फेरी नहीं होनी चाहिये। यदि किसी का दुःख-दर्द नहीं मिटा सकते हो तो उसे बढ़ाने का उपक्रम**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मत करो। लाभ नहीं हो रहा है तो कारखाना बन्द कर दो और अमरचन्द्र की तरह तुम लोग भी सर्विस करो।''

मेरे पुत्रों ने कारखाना बन्द कर दिया, और व्यवसाय प्रारम्भ किया। परिश्रम तथा ईमानदारी के कारण उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त हुई तथा बहुत पाया, आशातीत पाया।

सामाजिक कार्यकर्ता होने के कारण पिताजी अनेक संस्थाओं से जुड़े थे। निःशल्य होने की दृष्टि से उन्होंने प्रायः सभी संस्थाओं से त्यागपत्र दे दिया। इस अवसर पर कुछ कार्य मैनें भी सम्भाल लिये और पिताजी कुण्डलपुर में साधना करते रहे। फिर भी दीर्घकालीन सेवा के प्रतिफल उन्हें कभी–कभी धार्मिक संस्थाओं के प्रति राग आ जाता था। एक पत्र में उन्होंने मुझे कुण्डलपुर से लिखा – **''कटनी संस्था का ध्यान अवश्य रखना, वह धर्म सेवा तो है ही साथ ही अपने बुजुर्गो के दान की रक्षा भी है और अपना कर्तव्य है। साथ ही मेरे जीवनभर के परिश्रम की रक्षा है।''**

इन सबका मेरे मन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा, किन्तु बच्चों को काम सम्हालते–सम्हालते चार–छह वर्ष और बीत गये तथा मेरे मन में भी उदासीनता आने लगी। यह बात मैंने पिताजी को लिखी तो 30 जनवरी 82 को उन्होंने अपने कुण्डलपुर से भेजे एक पत्र में मुझे लिखा –

''58 वर्ष पूर्ण हुए यह आभास हुआ और आत्मनिरीक्षण किया यह भी उपलब्धि है। शेष जो है वह निश्चित होकर भी अज्ञात है। अतः उसकी चिन्ता करना आवश्यक है। दो–तीन वर्षो में बच्चों को ट्रेन्ड कर दो कि वे अपने पैरों पर खड़े हो जायें। उनमें भी पारस्परिक विवाद की स्थिति न रहे। तत्पश्चात् आत्महित तथा धर्माभ्युदय ही करना श्रेयस्कर होगा।''

मेरे पिताजी ने मुझे जहां जीवन के प्रारम्भ के कर्तव्यों के प्रति सावधान किया, वहीं अन्तिम अवस्था में करणीय कार्यो के प्रति भी पत्रों के माध्यम से सचेष्ट किया। साथ ही अपने आचरण से मुझे नित्य मौन उपदेश देते रहे। आत्म–कल्याण के साथ–साथ पर–कल्याण की भावना भी उनके मन में सदा बनी रही।

पिताजी के इस आदर्शपूर्ण जीवन को देखकर मुझे अत्यधिक खुशी होती थी। अतः कभी–कभी मैं स्वयं उनका सान्निध्य पाने के लिये उनके पास कुण्डलपुर चला जाता था और कुछ समय के लिये कभी सतना और कभी कटनी ले आता था। पिताजी प्रायः हर वर्ष आचार्यश्री के दर्शनार्थ चातुर्मास में तथा अन्य मौकों पर अवश्य जाते थे। कभी–कभी मुझे भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

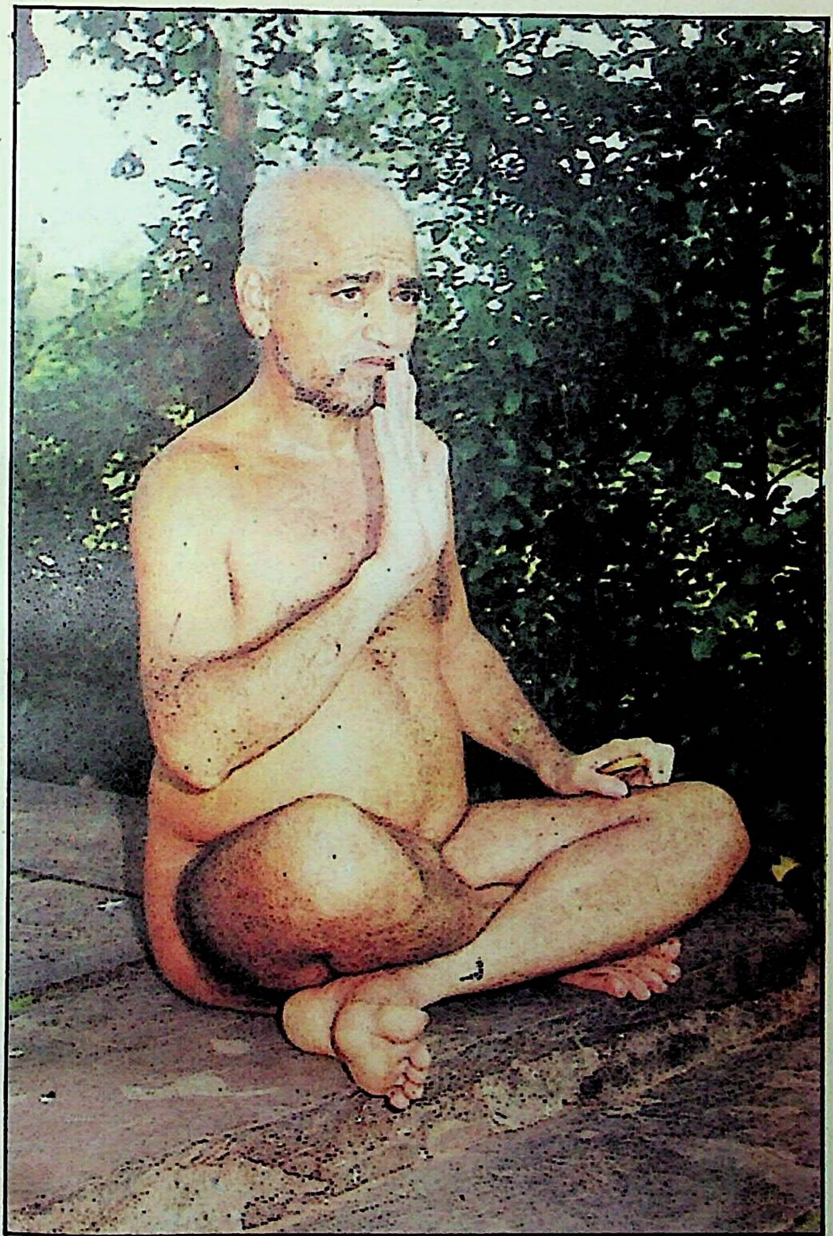

आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज
जिनका आशीर्वाद
पण्डितजी सहित चार पीढ़ियों को मिलता रहा है।
परिवार का शत् शत् प्रणाम।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री क्षेत्र कुण्डलगिरि (दमोह) जहाँ पं.जी ने समाधि सम्राट आचार्य 108 श्री विद्यासागर महाराज के सानिध्य में समाधि ली।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

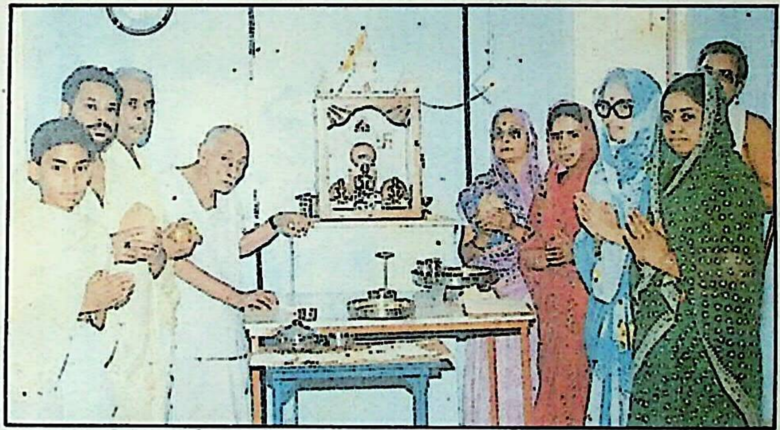

गृह चैत्यालय में पूजन करती पण्डितजी की चार पीढ़ी.

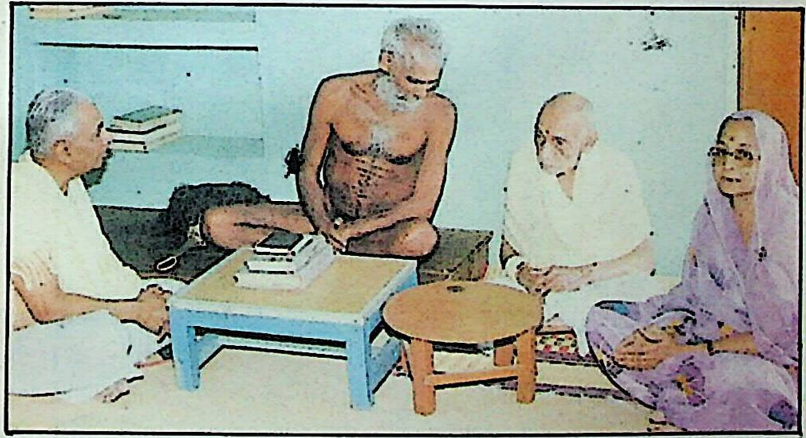

प्रेमनगर सतना गृह चैत्यालय में मुनि 108 श्री ब्रह्मानंद जी महाराज

मुनिश्री को पड़गाहन करता परिवार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्यश्री के चरणों में आत्म निवेदन

संघ के सानिध्य में अंतिम साधना (7 अक्टूबर 95)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

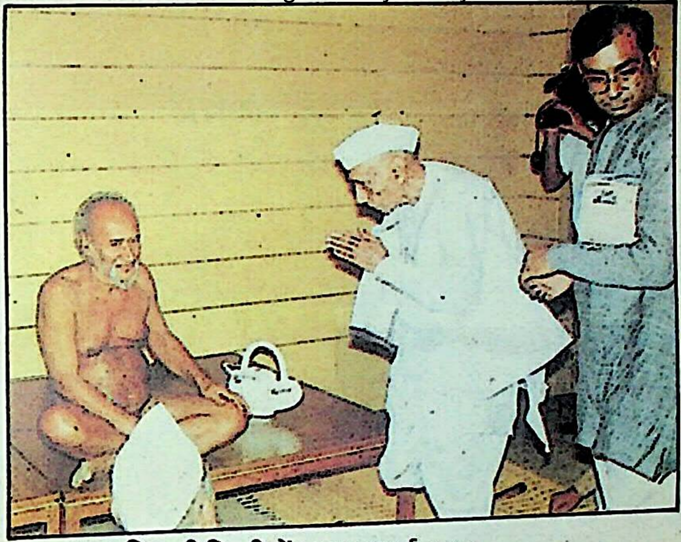

पण्डितजी दिल्ली में पूज्य आचार्य 108
श्री विद्यानन्द जी महाराज की वंदना करते हुए।

पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री जी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधुवाद समारोह

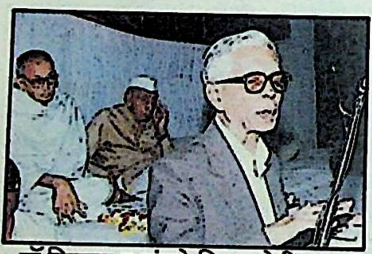

डॉ.विलास ए संघवे विद्वतगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए।

ब्र.पं.माणिकचन्द्रजी चवरे की उपस्थिति से समारोह गौरवान्वित हुआ।

साहू अशोककुमार जी पण्डितजी को नमन करते हुए पार्श्व में श्रीमंत सेठ ऋषभकुमारजी।

साहूजी, सुरेन्द्रकुमार जी रतनलाल जी गंगवाल स.सिं.धन्यकुमार जी कटनी।

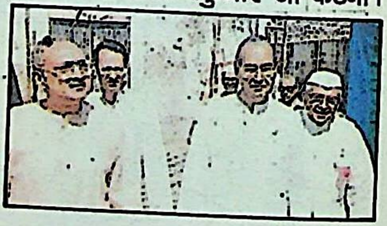

समारोह मंच पर ताराचन्द प्रेमी कविता पढ़ते हुए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंतिम यात्रा

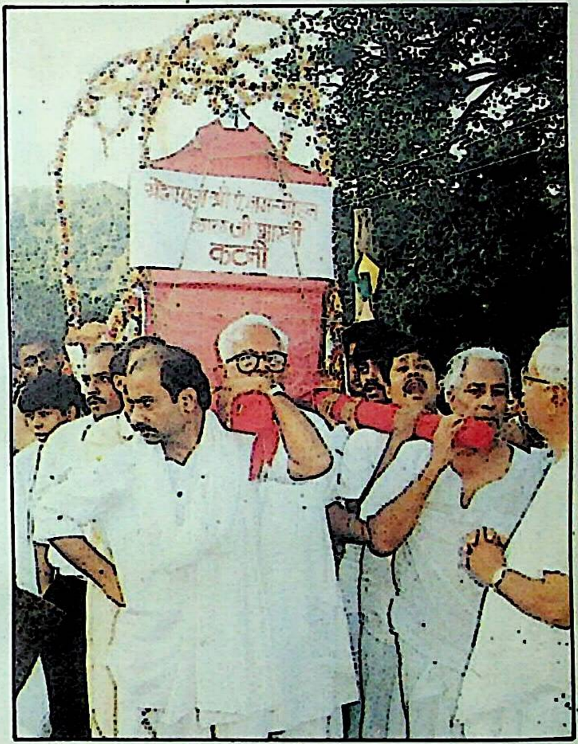

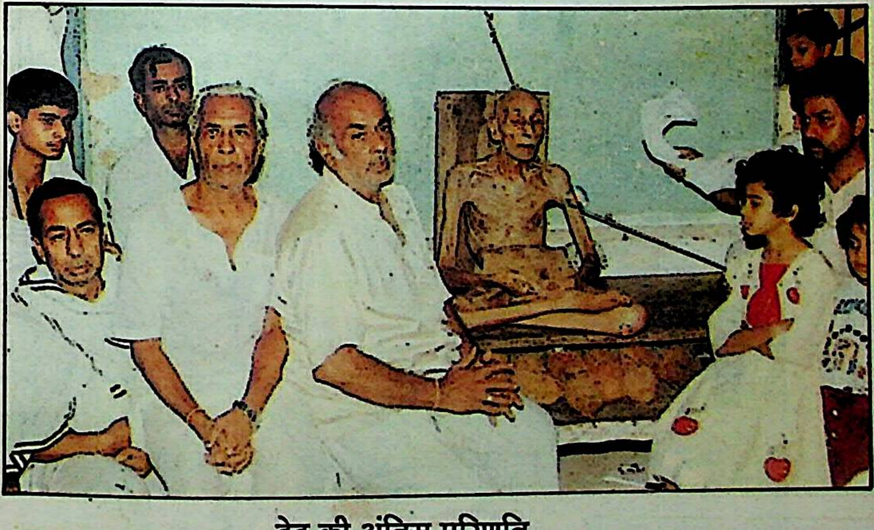

देह की अंतिम परिणति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

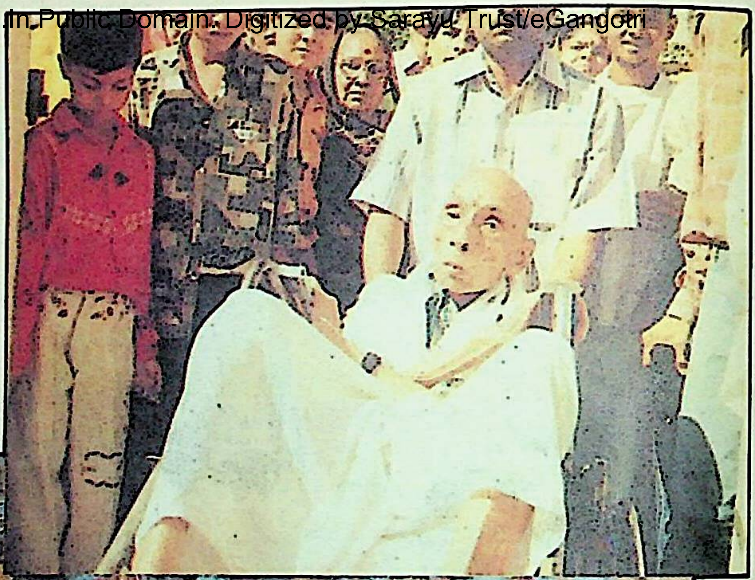

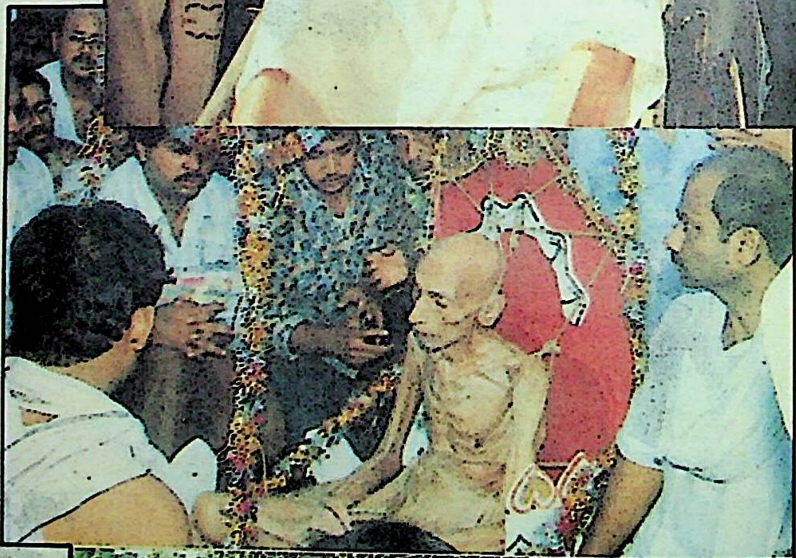

अंतिम यात्रा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
साथ में जाने का अवसर मिला। खूब आनन्द आया। पाँच चातुर्मास कुण्डलगिरि में आचार्यश्री के हुये। सन् 1976 में आचार्यश्री ने बुंदलेखण्ड में प्रवेश किया था, तब से 1995 तक जितनी माताओं की दीक्षायें हुई हैं, प्रायः उन सभी बहिनों ने पिता जी से शिक्षा संस्कार प्राप्त किये हैं।

चातुर्मास के समय श्री महावीर उदासीन आश्रम में भी पिताजी ने ऐलक, क्षुल्लक तथा ब्रह्मचारी भाइयों को स्वाध्याय कराया।

परिवार में धार्मिक वातावरण बना रहे, धर्माचरण रहे, इसके लिए पिताजी ने भगवान श्री शान्तिनाथ की एक मूर्ति की प्रतिष्ठा करा ली थी और वे चाहते थे कि मैं उसे अपने पास रखूं, परन्तु मैं ऐसी सुविधा परदेश में छह–सात साल तक नहीं जुटा पाया।

जब मैंने सतना में मकान बनवाया तो 19 अप्रैल 84 को पिताजी ने कुण्डलपुर से लिखा –

"हमारी सन्तान परम्परा में कोई धार्मिक जिनदर्शन की प्रतिज्ञा करने वाला हो और उसे हम कहें – हमारे घर में यह नियम नहीं चल सकेगा, घोर दुःख की बात है। तब तो हम अजैन हो गये। अजैन कुल में यदि जैन कन्या जाये तो उसे कहा जाता है कि यह नियम छोड़ो, यह न होगा, हमें इष्ट नहीं है। जब तक हमारे पास स्वयं का मकान न था तब तक पराये घर में रहना पड़ता था तो हमारे भगवान् भी पर घर (कटनी मंदिर) में रहे। जब हमने बाल–बच्चों के रहने के लिए सुविधा बना ली और भगवान् पर–घर में रहें यह बड़ी अटपटी बात है।"....

पिताजी के इस पत्र का मेरे ऊपर गहरा असर पड़ा और मैंने प्रेमनगर सतना में निवास स्थान पर चैत्यालय के लिए दो कमरे बनवा दिये। इस चैत्यालय के माध्यम से पिताजी ने परिवार एवं आस–पास के भाइयों के लिए जिनेन्द्र भगवान् के प्रति भक्ति, विनय तथा स्वाध्याय का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

हम परिवार के लोगों का प्रायः कुण्डलपुर आना–जाना लगा रहता था और सभी का प्रयास रहता था कि पिता जी निःशल्य हो अपनी साधना करें। वैराग्य–भावना की वृद्धि के साथ–साथ वे क्रमशः बाह्य एवं अंतरंग परिग्रह भी छोड़ते जाते थे। एक पत्र में कुण्डलपुर से उन्होंने अपने आपको असंप्रक्त होने की दिशा में लिखा –

"व्रतादि के सम्बन्ध में प्रतिमा बढ़ाई नहीं, पर आगे की प्रतिमाओं में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो–जो अनुकूल होगा वह नियम बढ़ाते जायेंगे। सवारी पशु की छोड़ दी है। अन्य अभी नहीं, आगे–पीछे छोड़ना तो है। भोजन व्यवस्था दातार के ऊपर छोड़ दी है। वह व्यक्ति घर का भी हो सकता है, बाहर का भी।

यहां तो आश्रम का खर्च जो मासिक 60/– है, सो देते जाना तो उत्तम है, अन्यथा समाजाश्रित है ही।''

कटनी और सतना के पारिवारिक जनों ने अपना–अपना व्यवसाय जमा लिया तथा पिताजी को शुभ–अशुभ की भागीदारी से मुक्त कर दिया ताकि वे असम्प्रक्त एवं निराकुल होकर अपनी साधना सफलीभुत कर सकें। अवस्था के अनुसार शारीरिक शिथिलता बढ़ रही थी, आना–जाना बहुत कम हो गया था। अतः बहुत आग्रह करने पर भी सतना में जहां मन्दिर की सुविधा और स्वाध्याय का वातावरण था, जिज्ञासु श्रावक थे वहां भी रहने से इन्कार कर दिया। आचार्यश्री के चातुर्मास स्थल पर उनकी वन्दना करने अवश्य जाते थे।

आध्यात्मिक दृष्टि से शारीरिक स्वास्थ्य सुधार की बात भी उनके पत्रों में झलकती थी। मेरी पत्नी काफी समय से अस्वस्थ थी, अतः एक पत्र में पिताजी ने लिखा –

''शारीरिक स्वास्थ्य के सुधारने में मानसिक स्वास्थ्य का बड़ा हाथ रहता है और मानसिक स्थिति को सुधारने में वातावरण का प्रभाव पड़ता है। तथापि धार्मिक पद्धति से ''वस्तु स्वभाव का मनन वातावरण के प्रभाव को भी बदल देता है'' वही उसका इलाज है। इन शब्दों पर संतोषरानी को मनन कर अपना भीतरी–बाहरी स्वास्थ्य सुधारना चाहिये।''

ऐसे पत्रों से हमारी और हमारे परिवार की जीवनधारा का निर्माण होता रहा, साथ ही परिवार, समाज, धर्म एवं स्वयं के उद्धार के प्रति उदार दृष्टिकोण बनता गया।

पिताजी जिन संस्थाओं से दीर्घकाल तक जुड़े रहे, उनके संचालन में यदि कभी कोई कमी दिखलाई दी तो चिन्ता की चिनगारी ने उन्हें उद्वेलित कर दिया। कर्मो की विचित्रता देखिये। इस चिन्ता से मुक्त करने के लिए छोटे भाई देवकुमार ने पिताजी को पत्र लिखा –

''आप व्यर्थ की चिन्ताओं और विवादों में न पड़ें हर तरफ से निश्चिंत होकर भी–अगर उलझनों में पड़े रहे....अपनी समझ में नहीं आता।''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिताजी ने अपनी इस त्रुटि को स्वीकार किया, जिसकी झलक उनकी डायरी के पन्नों में लिखे गये निम्न वाक्यों में मिलती है –

"देवकुमार का पत्र 25.12.86 का मिला, उसके शव्द महत्वपूर्ण हैं। कितनी सही समालोचना है। पुत्र तो हमें उलझन में न पड़ने की सम्मति देता है और हम उलझन में पड़ते हैं...। यथार्थ होना यह था कि हम उलझनों से, विवादों से, घर की चर्चाओं से स्वयं दूर रहते और लड़के हमारा आसरा तकते तव तो उलझन की परवशता थी, किन्तु वे मोह छोड़कर आत्मकल्याण का पूर्ण अवसर देते हैं और मैं घर, समाज, मकान आदि में विकल्प करता हूं। यह मेरी मूढ़ता है।

धन्यभाग्य हैं जो पुत्रों ने सव अनुकूलताएं दीं और घर–गृहस्थी का पूर्ण भार लेकर मुझे मुक्त किया। इतने पर भी मुझे समझ न आवे तो मेरा दुर्भाग्य ही माना जायेगा।" (डायरी–30.12.86)

इनके अनन्तर शारीरिक शिथिलता बढ़ने के कारण पिताजी ने परिवार के लोगों को कटनी और सतना में सेवा का अवसर दिया। यहां भी उन्होंने अपने स्वाध्याय का क्रम जारी रखा तथा साधुओं, माताजी, त्यागियों तथा श्रावकों को स्वाध्याय कराते रहे।

सन् 1995 में पिताजी के साथ कुण्डलपुर गया। वहां उनकी समाधि होने तक 105 दिन उनके साथ व्यतीत किये। इन दिनों में मुझे पिताजी का निरन्तर सान्निध्य प्राप्त रहा। इस अवधि में मैं केवल मूक होकर सामान्य, द्रष्टा नहीं रहा, अपितु मेरे जीवन में एक मोड़ आया और मैंने अनुभव किया कि सच्चा, सीधा और अन्तिम मार्ग यही है।

पिताजी के प्रति आचार्यश्री का वात्सल्यभाव, दिन–प्रतिदिन समाधि से पूर्व दिये गये उनके निर्देश मुझे नाटक से पूर्व होने वाले रिहर्सल से लगे और इस संयोग ने इस जीवन से पार होने का मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया।

प्रत्येक पिता अपनी सन्तान/परिवार को जीवन भर के लिये भोग के सब भौतिक सुख–साधन जुटाकर सन्तुष्ट होता है, किन्तु मेरे पिताजी ने मुझे और मेरे समस्त परिवार को केवल भौतिक सुख–समृद्धि के साधन ही अपने पुण्य की छाया तले नहीं जुटाये, अपितु आध्यात्मिक समृद्धि का पाठ पढ़ाकर उस दिशा में आगे बढ़ने का रास्ता साफ कर दिया है।

परिणामों में समता बनी रहे, कषाय कृश हो और पूज्य पिताजी के चरणचिह्नों पर चलने की शक्ति प्राप्त हो, ऐसी भावना भाता हुआ कुण्डलपुर के बड़े बाबा के श्री चरणों में भक्तिभाव पूर्वक अपनी विनम्र प्रणति अर्पित करता हूं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिताजी की प्रथम और अंतिम कुण्डलपुर यात्रा

❑ अमरचंद जैन

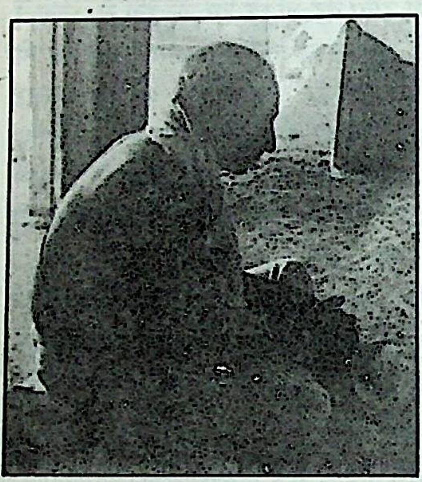

श्री क्षेत्र कुण्डलपुर बुन्देलखण्ड का अतिपूजित तीर्थ है। हमारे परिवार के लिये वह बहुत दूर नहीं था। प्रायः लोग अपने बच्चों का मुण्डन संस्कार इसी क्षेत्र पर कराते थे। इस तरह होश सम्हालने के पहले ही बड़े बाबा का दर्शन मिल जाता था।

मेरे दादाजी, पूज्य बाबा गोकुलप्रसाद जी बड़े बाबा के चरणों में गहरी भक्ति और आस्था रखते थे। इसलिये यह कहना तो कठिन है कि उन्होंने अपने सुपुत्र और मेरे पूज्य पिताजी जगन्मोहनलाल जी को कुण्डलपुर की यात्रा सबसे पहले कब कराई थी? परन्तु मुझे जो सुनने को मिला तदनुसार, जैन विद्या के अध्ययन के लिये भेजने के पहले, सन् 1913 में दादाजी ने उन्हें कुण्डलपुर की यात्रा कराई और वहीं पर पूज्यश्री गणेशप्रसाद जी वर्णी का आशीर्वाद दिलाया।

यह बात बड़ी विचित्र सी लगती है कि पूज्य वर्णी जी ने 12 वर्ष की बाल्यावस्था में, अपने आशीर्वाद के साथ उन्हें जो व्रत दिया, वह एक ऐसा अनोखा व्रत था जिसकी आज के भौतिक चकाचौंध वाले युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती है। वर्णी जी ने उन्हें "परिग्रह परिमाण व्रत" की मर्यादा में बाँध दिया। उस समय यह प्रतिज्ञा भले ही अनोखी लगती हो, किन्तु आगे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि उसी एक प्रतिज्ञा ने मेरे पिता के जीवन का विकास एक सन्तोषी श्रावक और प्रामाणिक विद्वान के रूप में किया। यह उनकी गुरु भक्ति और व्रत के प्रति आस्था का प्रभाव था कि,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक बड़े प्रलोभन सामने आने पर भी, और एक बड़े परिवार का दायित्व सामने रहने पर भी उन्होंने उस व्रत की मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं होने दिया। यह इस बात का प्रमाण है कि श्रावक में यदि संस्कार हों तो एक छोटी सी प्रतिज्ञा ही उसके सम्पूर्ण जीवन के निर्माण के लिये पर्याप्त है।

पूज्य वर्णीजी के साथ मेरे दादाजी का घनिष्ट सम्पर्क रहा है। मेरी दादीजी के स्वर्गवास के पश्चात् दादाजी घर से उदासीन हो गये थे और उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करके सातवीं प्रतिज्ञा धारण कर ली थी। कालान्तर में उन्हीं ब्र.बाबा गोकुलप्रसाद जी ने उदासीन युवक गणेश प्रसाद को सातवीं प्रतिमा के व्रत देकर "गणेशप्रसाद वर्णी" बनाया।

ब्र.बाबा गोकुलप्रसाद जी के सत्प्रयत्नों से एक और अनोखा कार्य सम्पन्न हुआ। कुण्डलपुर क्षेत्र पर श्री महावीर उदासीन आश्रम की स्थापना उनकी ही लगन एंवं पुरुषार्थ से सम्भव हो सकी। यहाँ एक तथ्य ध्यान में रखना होगा कि बीसवीं शताब्दी के उस प्रथम चरण में किसी युवक का बह्मचर्य व्रत धारण करना सामान्य या प्रचलित घटना नहीं थी। इसी प्रकार किसी तीर्थ पर उदासीन आश्रम की कल्पना भी बहुत विरल थी। इन दोनों घटनाओं ने बुंदेलखंड के जैन इतिहास को जितना प्रभावित किया है वह आज सबको ज्ञात है।

इसी पावन गिरि की गोद में ब्र.बाबा गोकुलप्रसाद जी से परसराम जी ने भी ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया था, जिनकी सल्लेखना भी कुण्डलपुर में 1995 में आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज के सान्निध्य में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण करने के कुछ दिनों पश्चात् सम्पन्न हुई थी।

इस प्रकार पूज्य पिता पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने इसी सिद्ध क्षेत्र से जीवन की पहिली व्रतधारण यात्रा प्रारम्भ की थी और यहीं अन्त में उन्होंने समाधिमरण प्राप्त किया।

मेरे पिताजी ने सन् 1927 में परम पूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज से द्वितीय प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये थे और सन् 1974 में सप्तम प्रतिमा ग्रहण की। उनका मानना था कि जो भी व्रत लिये जायें वे निरतिचार और दृढ़तापूर्वक पालन किये जायें। भले ही साधना आगे की भी चलती रहे। अतः प्रायः 46-47 वर्षों तक उन्होंने आगे की प्रतिमाएँ ग्रहण नहीं की और सन् 1974 से गृह-विरत श्रावक के आचरण को अभ्यास रूप में पालन करते रहे।

सन् 1976 में पूज्य 108 श्री आचार्य विद्यासागर जी महाराज का बुन्देलखण्ड में आगमन हुआ और वे सतना होते हुये कटनी पधारे। उनकी वीतरागतापूर्ण चर्या एवं संयम साधना को देखकर प्रत्येक बुन्देलखण्डवासी में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनके प्रति इतना आकर्षण एवं इतनी भक्ति–भावना जाग्रत हुई कि आचार्यश्री को भी लगातार बीस वर्षो तक इसी धरती पर विहार करना पड़ा।

गुरु भक्ति एवं धर्मवात्सल्य के कारण पिताजी भी पूज्य आचार्यश्री और उनके संघ से ऐसे बँधे कि अन्तिम शरण उन्हीं के चरण सान्निध्य में 1995 में कुण्डलपुर में पावन पांचवें वर्षायोग के अवसर पर प्राप्त की। इससे पूर्व भी मुक्तागिरि, नैनागिरि, थूबौन जी और रामटेक में उनके चरणों का वर्षायोग में सान्निध्य प्राप्त कर धन्य हुए।

वृद्धावस्था एवं शारीरिक शिथिलता उन्हें बार–बार समाधि लेने को उद्वेलित करती रहती थी। 1992 में कुण्डलपुर में वर्षायोग हो रहा था। एक दिन वात के प्रकोप से शरीर अकड़ गया। हिलते–डुलते नहीं बन पा रहा था। अतः सुबह पिताजी बोले–''आचार्यश्री के पास ले चलो। लगता है समय आ गया है।'' डोली में बैठाकर मैं और वाराणसी से पधारे पं. खुशालचंद्र जी गोरावाला उन्हें आचार्यश्री के पास ले गये। वहाँ उन्होंने आचार्यश्री को अपनी स्थिति बतलाकर समाधि साधने की प्रार्थना की।

आचार्यश्री ने कहा –''अभी समय नहीं आया है, चिन्ता की भी बात नहीं है, साधना करें। भोजन में पेय पदार्थ और जलीय द्रव्य ज्यादा लेवें, ताकि मल कम बने।''

व्याधि दूर होने पर प्रयोग शुरू हुआ तथा प्रत्येक वर्षायोग में आचार्यश्री का सान्निध्य पाने का प्रयास एवं सामधि लेने का निवेदन होता रहा। साथ ही कुण्डलपुर, सतना और कटनी में रहते हुये स्वीकृत व्रतों का पालन करने एवं आगे की साधना करने में तल्लीन रहे। व्रतों के निरतिचार पालन के लिये वे सदा सावधान रहे।

पारिवारिकजनों से असंप्रक्त रहकर बाह्य एवं आन्तरिक परिग्रह की परिधि को संकुचित करते हुये वे निरन्तर साधना–पथ पर बढ़ते रहे तथा दृढ़तापूर्वक परिणामों में विशुद्धि लाने का प्रयास करते रहे।

आचार्यश्री का वात्सल्य पिताजी को सदैव प्राप्त होता रहा है। एक बार मुक्तागिरि दर्शन करने गये। वहाँ हमें निर्देश मिला कि – ''पण्डित जी के साथ छाया की तरह रहना चाहिये। कहीं शारीरिक शिथिलता के कारण गिर न पडें, सावधानी रखना, चोट न लगे, अन्यथा इस वृद्धावस्था में समाधि में बाधा उत्पन्न हो जायेगी।''

पिताजी की ज्ञान साधना अभीक्ष्ण रूप से चलती रहती थी। शारीरिक अशक्ति के इन दिनों में भी साधुओं एवं ब्र.भाई–बहिनों को स्वाध्याय कराते रहे। 1992 में एक दिन ब्र. गीता बहिन अन्य ब्र. बहिनों के साथ जैन न्याय के श्रेष्ठ ग्रन्थ अष्टसहस्री को पढ़ने नित्य की भाँति सुबह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आई, स्वाध्याय हुआ। कुछ दिनों बाद मैं पिताजी की सन् 1922 की डायरी देख रहा था। एक पृष्ठ पर लिखा था– ''आज अष्टसहस्री का पेपर अच्छा रहा''– यानी 70 वर्षों के बाद भी पिता जी ब्र. बहिनों को ऐसे पढ़ा रहे थे, जैसे विश्वविद्यालय का कोई वरिष्ठ प्रोफेसर कक्षा ले रहा हो। यह स्मृति 91 वर्ष की अवस्था में थी। इसी प्रकार प्रेमनगर सतना स्थितं गृह चैत्यालय के स्वाध्याय कक्ष में 108 श्री ब्रह्मानन्द जी महाराज को एक माह तक उनकी अत्यंत रुचि के कारण तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार का सुबह--शाम स्वाध्याय कराया।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सन् 1950–52 के लगभग से साधुओं को स्वाध्याय कराने हेतु पिताजी ने चातुर्मास स्थलों पर विद्वानों की व्यवस्था की थी और उसके अच्छे परिणाम सामने आये। तदनन्तर अपने द्वारा स्थापित **''निजज्ञान सागर शिक्षा कोष''** के द्वारा जैन पत्र–पत्रिकाओं में विज्ञापन देकर आगम तथा आध्यात्म ग्रन्थ जिज्ञासुओं के लिये निःशुल्क भिजवाते रहे। इसी कोष से पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं और भविष्य में भी इस व्यवस्था को बनाये रखने का प्रयास है।

रामटेक चातुर्मास में भी आचार्यश्री से शारीरिक स्थिति जीर्ण होने से समाधि की प्रार्थना की, परन्तु आवश्यक समाधान और साधना का परामर्श देकर आचार्यश्री ने उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने का निर्देश दिया। इसी परिस्थिति को ध्यान में रखकर सन् 1994 में पूज्य आचार्यश्री ने मुनि 108 श्री समतासागर जी एवं मुनि 108 श्री प्रमाणसागर जी तथा क्षुल्लक श्री 105 निश्चयसागर जी महाराज को कटनी में वर्षायोग स्थापित करने का निर्देश दिया था।

काललब्धि निकट आई। पुण्य का उदय निरन्तर चल ही रहा था। कुल मिलाकर ऐसा सुयोग लगा कि 1995 में पुनः कुण्डलपुर में पूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी का संघ सहित चार्तुमास स्थापित हुआ। बड़े बाबा के चरणों में यह उनका पाँचवा चतुर्मास था। इस चातुर्मास की सम्भावना का आकलन करके पिताजी चार्तुमास स्थापना के पहिले 25 जून 1995 को ही आग्रह करके कुण्डलपुर पहुंच गये। यथा–अवसर उन्होंने आचार्यश्री से समाधि की याचना की। उनके मार्गदर्शन में ही, समतापूर्वक, आत्मकेन्द्रित होकर अपना काल यापन किया और क्वांर शुक्ला चतुर्दशी को सायंकाल गोधूलि बेला में मुनिसंघ की उपस्थिति में सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर की उसी पवित्र धरती पर जहाँ से 82 वर्ष पूर्व उनकी संयम यात्रा का मंगलाचरण हुआ था, उन्होंने समाधिमरण प्राप्त करके अपनी पर्याय का स्पृहणीय अवसान किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं उनका सातवाँ बेटा

❑ नीरज जैन

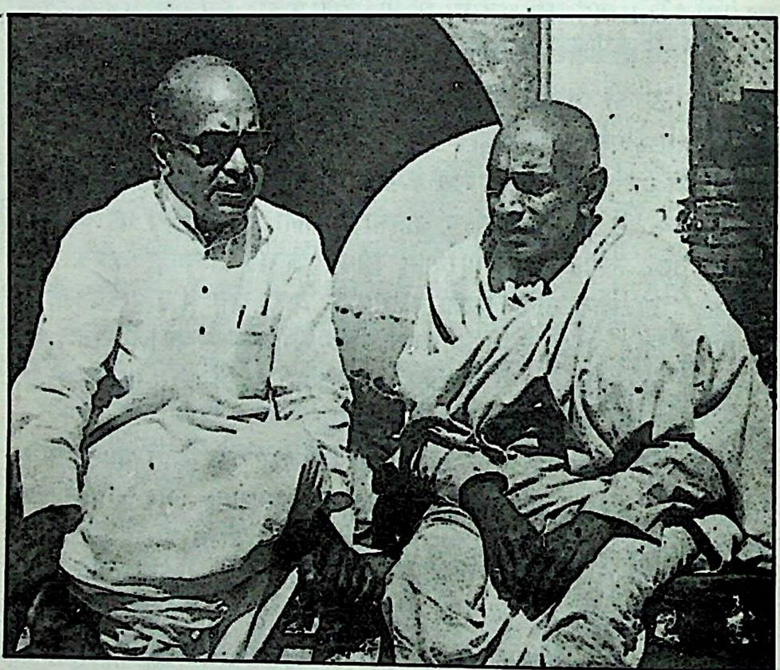

बुन्देलखण्ड में अशिक्षा के अंधकार को चीर कर शिक्षा का सूर्योदय लाने का सर्व–प्रथम अभियान, इस शताब्दी के प्रारम्भ में, प्रातः–स्मरणीय श्री गणेशप्रसादजी वर्णी ने किया। उन्होंने अपने पैदल प्रवास में, गॉव–गॉव में पाठशालाओं की स्थापना कराई और जैन विद्याओं की उच्च शिक्षा के लिये 1905 में काशी में "स्याद्वाद महाविद्यालय" की स्थापना की। उसके तीन वर्ष पश्चात, उन्हीं की प्रेरणा से सागर में श्री सत्तर्क–सुधा–तरंगिणी पाठशाला स्थापित हुई, जिसे आज श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन महाविद्यालय के नाम से जाना जाता है। इसके बाद भी उन्होंने अनेक विद्यालयों और गुरुकुलों की स्थापना का कार्य किया। आज पूर देश में जैन विद्याओं के जो भी अध्येता, व्याख्याकार, प्रवचनकार और अध्यापक विद्यमान हैं, उनमें से अधिकांश कहीं न कहीं बुन्देलखण्ड से सम्बंधित होते हैं और किसी न किसी प्रकार गणेशप्रसाद वर्णी द्वारा संस्थापित संस्थाओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से जुड़ते हैं। अधिकांशतः जैन शिक्षाओं के मूल में उसी एक महापुरुष की कल्पना, या उसका पुरुषार्थ निहित दिखाई देता है।

वर्णीजी ने विपुल संख्या में संस्थाओं को जन्म दिया, परन्तु संस्थाओं का व्यामोह उन्हें कभी बाँध नहीं पाया। उन्होंने संस्था–मोह को स्वकल्याण में बाधक मानकर, सदा समय रहते, उनसे अपने आपको मुक्त कर लिया। इसी युक्ति से वे अपने आपको चारित्र की साधना से प्रक्षालित करने के पुरुषार्थ में संलग्न कर पाये। अपने अंतिम जीवन के अंतिम आठ वर्ष तो वर्णीजी ने, संस्था, समाज और शिष्यवर्ग से नितान्त निरपेक्ष होकर, सुदूर ईसरी के आश्रम में, एकान्त साधना के लिये ही नियोजित किये। उसी आश्रम में, 34 दिनकी सल्लेखना के उपरान्त उन्होंने समाधि–मरण प्राप्त किया। बड़ी बात यह थी कि उनकी उस सल्लेखना का कोई निर्यापक उन्हें उपलब्ध नहीं हुआ। वह उनकी "स्वनियंत्रित" साधना थी और अपने आप में निर्दोष तथा उत्कृष्ट साधना थी। उस पवित्र अनुष्ठान को देखकर यह कहा जा सकता है कि–"पूज्य वर्णीजी ने अपने जीवन भर के प्रयासों से अविद्या के अंधकार को विदीर्ण करने की प्रेरणा दी, वहीं कार्य किया, और अंत में अपने निस्संग, उज्जवल समाधि–मरण से, अपने अनुयायियों को "मरस के वरण" का भी साक्षात् उपदेश प्रदान किया।"

पूज्य गणेशप्रसाद वर्णीजी के चरणों के अनुग्रह से जिन्होंने कुछ भी प्रसाद प्राप्त किया, उन्होंने भरसक उस प्रसाद का वितरण किया। इस प्रकार आज भी वर्णीजी की शिष्य–प्रशिष्य परम्परा के रूप में, उनके द्वारा प्रज्चलित ज्ञान की वह ज्योति, अपनी सम्पूर्ण गरिमा और पूरे तेज के साथ, अनवरत प्रज्चलित है।

पूज्य वर्णीजी के साक्षात् शिष्यों की समाज में बड़ी प्रतिष्ठा रही है। ज्यों ज्यों काल बीतता जाता है त्यों त्यों उनके साक्षात शिष्यों की पीढ़ी समाप्त होती जा रही है। वर्णीजी की तरह जीवन में ज्ञानाराधना के साथ चारित्र की पालना करके दिखाने वाले शिष्य तो बहुत कम ही रहे हैं। उन बिरल प्रकार के विद्वानों में एक नाम, जो सदा आदर से स्मरण किया जायेगा, वह है पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री।

पण्डित जगन्मोहनलालजी का कार्यक्षेत्र रहा कटनी, और मेरा जन्म, समीप ही रीठी ग्राम में हुआ। मेरी किशोरावस्था में, आज से कोई पचपन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साल पहले, मेरे पिताजी मुझे कटनी विद्यालय में पण्डितजी के पास यह कहकर छोड़ गये थे कि --"इस बालक को एक वर्ष से अधिक पढ़ाने की हमारी सामर्थ्य नहीं है, अतः एक वर्ष में जो कुछ इसकी इच्छा हो, वह इसे पढ़ा दीजिये। इसे घर पर भी कुछ सिखाया है।" उस समय पण्डितजी विद्वान् के रूप में तो विख्यात थे ही, एक सामाजिक नेता के रूप में भी स्थापित हो चुके थे। उस वर्ष वे चार विद्यार्थियों को मात्र सर्वार्थ-सिद्धि पढ़ाते थे। शिक्षा संस्थाओं के संचालन का बहुत सा भार तथा परवार बंधु की सारी जिम्मेवारी उनके ऊपर थी और उनका बहुत सा समय उसमें ही जाता था। उन्होंने मेरी अभिलाष पूछकर, और थोड़ी परीक्षा लेकर, रत्नकरण्ड श्रावकाचार पढ़ाने के लिये मुझे श्री रामरतन शास्त्री को सोंप दिया। श्री झा महोदय को कहकर मुझे संस्कृत और मास्टर गोरेलालजी को कहकर अँग्रेजी पढ़ाने की व्यवस्था कर दी गई।

इस प्रकार बिना किसी निर्धारित पाठ्यक्रम के मेरी पढ़ाई सम्पन्न हुई। यद्यपि उस एक वर्ष के मेरे धार्मिक शिक्षाकाल में पण्डितजी से मुझे कुछ भी पढ़ने का अवसर नहीं मिला, परन्तु पिताजी के स्नेहपूर्ण संबंधों के कारण, और मेरी साहसपूर्ण चपलता के कारण, उनका विशेष कृपापात्र रहकर, उस एक वर्ष में पण्डितजी के वात्सल्य का इतना प्रसाद मैंने प्राप्त किया जो आगे चलकर मेरे अध्यवसाय से बट-वृक्ष की तरह अभिवृद्धि को प्राप्त होता रहा। यह क्रम आज भी रुद्ध नहीं हुआ। फिर कभी किसी विद्यालय में तो मुझे पढ़ने का अवसर नहीं मिला, परन्तु उस एक वर्ष के कटनी छात्रावास नेऔर पण्डितजी के सम्पर्क ने मुझे बहुत कुछ सिखाया। उन्होंने मेरी उस अबोध अवस्था में मुझे अपनी निकटता का जो अवसर दिया, उससे मेरे मनमें उनके प्रति गुरु का सम्मान जागृत हुआ और उनके मन में भी मेरे पुत्र जैसा वात्सलय प्रगट हुआ। उनका वह स्नेह आगे आधी शताब्दी तक मुझे मिलता रहा।

गत वर्ष सात अक्टूबर 1995 को, अपनी 95 वर्ष की आयु पूरी करके, पण्डितजी ने श्रीक्षेत्र कुण्डलपुर में समाधि पूर्वक देह-त्याग किया। उस दिन उनकी चिर-पोषित आकॉक्षा पूरी हुई। यह अतिरिक्त सौभाग्य की बात रही कि उनकी समाधि-साधना परमपूज्य आचार्य विद्यासागरजी के सान्निध्य में और उनके अनुशासन में ही परिपूर्ण हुई। आज पण्डितजी की प्रथम पुण्यतिथि पर उनके परिवार द्वारा प्रस्तावित इस स्मारिका के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिये जब अपना मनोगत लिखने बैठा हूं, तब, मेरा मन अनेक द्विविधाओं से मथित हो रहा है।

पण्डितजी के साथ पिछली अर्द्ध–शती के सम्पर्क के सैकड़ों दृश्य आज मेरे मन–मष्तिष्क में, चलचित्र की तरह प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। मैं गहरी असमंजस में हूं कि उन में से किसे छोडूं और किसे रूपायित करूं। वे सारी स्मृतियॉ कागज के पन्नों पर आने की हठ कर रही हैं, पर मेरी कुछ सीमाएं हैं। उस गहन–वन के कुछ थोड़े से पत्र–पुष्प ही आपके समक्ष प्रस्तुत कर पाऊंगा। मेरी यह भी समस्या है कि जिन संस्मरणों को मैने यहॉ प्रस्तुत करने के लिये चुना है, उनके किस पक्ष को, किस निहितार्थ को रेखांकित करके आपके सामने रखूं ?

मेरे प्रति पण्डितजी के वात्सल्य और विश्वास का यदि कोई परिचय देना पड़े तो मैं उनके दो वाक्य प्रस्तुत करना ही पर्याप्त समझूंगा। पहला यह कि कई बार पण्डित जगन्मोहनलालजी ने मुझे अपना ''सातवॉं बेटा'' कहा है। इस बात को उन्होंने बार–बार कहा भर कहीं, कहीं लिखा भी है। दूसरा वाक्य उन्होंने एक जगह लिखा था कि –''मेरे जीवन में चार व्यक्ति बहुत महत्वपूर्ण रहे हैं।'' अब यहॉ उन चारों के नाम लिखकर आपको ईर्षा–पीड़ित नहीं करना चाहता। मैं तो सिर्फ इतना ही बताना चाहता हूं कि पण्डितजी के उन चार महत्वपूर्ण व्यक्तियों में एक मैं भी हूं। मैं, नीरज जैन।

अनासक्त और विरक्त जीवन बहुत पहिले से पण्डितजी का काम्य रहा है। उनके पिता बाबा गोकुलप्रसादजी का आदर्श उन्हें बार बार उसी विरक्त जीवन की और आकर्षित करता था। उनके गुरु श्री गणेशप्रसाद वर्णी की प्रेरणा उन्हें बार–बार उस ओर खींचती थी, पर दूसरी ओर संस्थाओं का व्यामोह और पारिवारिक दायित्वों का चुम्बक उनका गति–अवरोध करके, बार–बार उनके संकल्प को शिथिल कर देता था। अनेक बार उनके नितान्त एकान्त क्षणों में, मैं उनके उस पीड़ादायक मानसिक ऊहापोह का साक्षी रहा हूं। सारे बंधन तोड़कर खुली हवा में स्वाधीनता की सॉस लेने की उनके मन की छटपटाहट को वर्षों तक मैंने न केवल देखा है, अपितु उस अंतर्द्वंद का निकट संवेदन भी किया है। आज जितनी संजीदगी से अपनी चेतना पर अंकित उन परिदृश्यों की ओर मैं देखता हूं, मेरा मन उतना ही अधिक पीड़ा से कॉप उठता है। अपने ही द्वारा स्थापित बंधनों को तोड़ना क्या सचमुच इतना कठिन है ? राग के बंधन कितने जटिल होते हैं ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं स्मरण करता हूं, अपनी पचास वर्ष की आयु में पण्डितजी ने अपने बड़े बेटे को लिखा था –"अब आकर तुम घर सम्हालोगे और हम अपने इंक्यावनवे जन्मदिन पर अपने पूज्य पिता के मार्ग का अनुसरण करेंगे।" पर इस अभिलाषा के बावजूद बीस–पच्चीस साल तक उन्हें इस दिशा में आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिला। उनकी यह परवशता कोई गोपनीय तथ्य नहीं थी। पूज्य वर्णीजी को भी पण्डितजी की इस मनस्थिति का पता था। सन् 1957 की दीपावली पर बाबाजी ने उन्हें इन शब्दों में सम्बोधित किया था–

"कलकाल में पण्डितों में परस्पर सौमनस्य होना प्रायः असम्भव है। अस्तु, आप सानन्द से रहना। मेरी सम्मति मानो तो ब्रह्मचर्य की विशेष रक्षा करो तथा विशेष संस्थाओं की चिन्ता त्यागो।"

गुरु के इतने स्पष्ट आदेश के बाद भी, परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण, या मन की संकल्प–हीनता के कारण, पण्डितजी इन दोनों आज्ञाओं का पालन अनेक वर्षो तक नहीं कर पाये।

चिता ने चिन्तन की प्रेरणा दी

गुरु के लिखित आदेश या परामर्श पण्डितजी पर जो प्रभाव नहीं डाल सके, वह प्रभाव गुरु की चिता की लपटों ने उनके भीतर उत्पन्न कर दिया। वर्णीजी की समाधि के समय वे ईसरी में उपस्थित नहीं हो पाये। मेरा तार मिलने पर भी वे पाँचवे दिन प्रस्थान कर सके और भाद्रपद कृष्णा एकादसी को जब वे गाड़ी से उतर कर आश्रम में पहुंचे तब तक चिता की लपटें शान्त हो चुकी थीं। दहकते अंगारे शेष थे। उस दिन मैं, और अकेला मैं साक्षी बना, जब रोते हुए, उन अंगारों पर चन्दन चढ़ाकर पण्डितजी ने आजन्म ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ली। उस समय उनकी आयु साठ के पार पहुँच चुकी थी। इस पर भी, अतिचारों के भय से सातवीं प्रतिमा के व्रत और तेरह वर्षों तक वे धारण करने का साहस नहीं कर पाये। उस व्रत की तीव्र लालसा उन्हें कचोटती रही और 1974 में, अपने ही मन्दिर में, भगवान को साक्षी बनाकर उन्होंने कटनी में सातवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। उस समय तक आचार्य विद्यासागरजी का बुन्देलखण्ड में प्रवेश नहीं हुआ था। शायद तब तक पण्डतजी ने उनका दर्शन भी नहीं किया था।

इस प्रकार 1957 की गुरु की लिखित आज्ञा का 1974 में आंशिक पालन हुआ। संस्थाओं का व्यामोह इतनी सबलता से उन्हें जकड़े

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
रहा कि, उनके जैसा गुरु–भक्त भी पच्चीस साल तक उस परामर्श पर विचार तक नहीं कर सका। सोचता हूं इसका कारण उपेक्षा भाव– नहीं था। शायद मोह भी वह नहीं रहा होगा। वह शिक्षा के प्रसार–प्रचार के प्रति उनका अप्रतिम प्रशस्त अनुराग ही रहा होगा। पर, है तो वह भी राग ही। अनासक्ति और विरक्ति का बाधक।

1961 में, पूज्य वर्णीजी के अवसान के उपरान्त, पण्डितजी के चिन्तन में एक स्पष्ट मोड़ आया। तीन वर्ष उपरान्त, 1964 की श्रावण शुक्ला सप्तमी को हमारी सहोदरा सुमित्रा ने दीक्षा लेकर आर्यिका पद प्राप्त किया। इस घटना ने मुझे भी, स्वाध्याय आदि की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया। वर्णीजी के अभाव में संतसमागम की जो धारा टूट सी रही थी, उसे नया मार्ग मिल गया। आर्यिका– दीक्षा के संदर्भ में उन्होंने मुझे लिखा– "तुम्हारी छोटी बहिन ने मुझे पीछे छोड़ दिया, यह उनके पुरुषार्थ की विजय और मेरे पुरुषार्थ की पराजय का प्रतीक है।"

सन् 1962–63 से 85–86 तक के चौबीस–पच्चीस वर्षों का यह काल ही ऐसा कालखण्ड रहा जब पं. जगन्मोहनलालजी की सार्वधिक निकटता मुझे मिली। उस समय परिस्थितियों ने अमरचन्द्र को उनसे बहुत दूर ढ़केल दिया था। साल भर में उसके साथ एक महीने का भी सम्पर्क पण्डितजी का प्रायः नहीं हो पाता था। उनके शेष पुत्र आयु में बहुत छोटे थे। जैसा घर–गृहस्थी में होता है, पण्डितजी के साथ भी घरेलू झंझटों का अम्बार लगा रहता था। इन सारे संदर्भों पर वे मुझसे चर्चा करते और विचार–विमर्श करते थे। मेरे और उनके बीच आयु का जो पच्चीस वर्ष का अंतर था, उसका अतिक्रमण करके हमारे संबंधों ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया था, जिसे मैत्री तो नहीं कहना चाहिये, पर, वह उससे कम भी नहीं था। कह सकते हैं कि इस बीच हम "सुख–दुख के साथी" की तरह, एक दूसरे के लिये उपलब्ध थे। यही कारण था कि उनकी अंतर–भावनाओं का भी मुझे परिचय मिल जाता था।

मुनिसंघों की यात्रा

पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी के राग वश हम लोगों का प्रति वर्ष अनेक मुनिसंघों में आना जाना होता रहता था। ऐसे हर प्रवास में पूरा चौका हमारे साथ होता था। हमारे आग्रह पर पण्डितजी ने भी कई बार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
हमारे साथ इन संघो की यात्रा की। अहार, पपौरा, प्रतापगढ़, निवाई, सवाई माधौपुर और सरधना तथा मुजफ्फरनगर आदि अनेक स्थानों पर पण्डितजी ने हमारे परिवार के साथ यात्रा की। एक दो जगह तो आठ-दस दिनों तक भी वे वहाँ रहे और सिद्धान्त-ग्रन्थों के स्वाध्याय में अपना योगदान उन्होंने दिया। आगम और अध्यात्म, दोनों की अच्छी सूक्ष्म अवधारण उनके चिन्तन में व्यक्त होती थी। शास्त्रों के शब्दार्थ की जगह उनके भावार्थ पर उनकी अच्छी पकड़ थी और उनकी विशेष व्याख्यान-शैली में वे भावार्थ बहुत स्पष्ट तथा निश्चित रूप में व्यक्त हो जाते थे।

दिगम्बर जैन समाज में इस शताब्दी में अनेक अच्छे विद्वान हुए हैं। परन्तु वक्तृता एक ऐसा दुर्लभ गुण है जो हर विद्वान में नहीं पाया जाता। विद्वत्ता के माध्यम से वस्तु-स्वरूप को समझा जा सकता है, परन्तु उसे समझाने के लिये वक्तृता अत्यंत आवश्यक तत्व है। जिन पाँच-सात विद्वानों की व्याख्यान-शैली ने मुझे बहुत प्रभावित किया है, उनमें पण्डित जगन्मोहनलालजी का नाम बहुत ऊपर है। पं.बंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर, पं.कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस, पं.पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पं.दयाचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री सागर, पं.हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री साढूमर, पं.महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य और डॉ.नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य आदि कुछ ही ऐसे विद्वानों का मुझे सम्पर्क मिल पाया जिन्हें आज भी उत्तम वक्ता के रूप में मैं स्मरण करता हूं। प्रायः ये सब अपनी विशिष्ट व्याख्यान-शैली के लिये अपनी अलग पहिचान रखते थे और उन्हें सुनना आनन्ददायक होता था। पण्डित जगन्मोहनलालजी को इन सबसे अधिक सुनने का अवसर मैंने पाया है। उस शैली से मैंने बहुत कुछ ग्रहण करने की भी चेष्ठा की है। किससे कितना सीख पाया हूं यह बताना मेरे लिये कठिन है।

इसी सत्तर के दशक में पण्डितजी पर यह अभियोग लगाया गया कि वे श्रीकहानजी के बढ़ते प्रभाव के कारण सोनगढ़ की विचारधारा से प्रभावित हो गये हैं। जैन-सन्देश में उनके द्वारा उन दिनों लिखे गये कुछ अग्रलेखों से यह ध्वनि निकाली गई थी। फिर 1977 में, जब अध्यात्म-अमृत-कलश प्रकाशित होकर आया तब, उसमें समाहित कुछ व्याख्याओं को लेकर इस बात की पुष्टि भी की गई। परन्तु यह एक क्षणिक आवेश से अधिक, या सौजन्य उपचार से अधिक कुछ नहीं था। आध्यात्म-अमृत-कलश में आई विसंगतियों पर जब विशुद्धमती माताजी ने संकेत किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
तब तत्काल वे उस ग्रन्थ के पुनः सम्पादन के लिये कृत–संकल्प हो गये। मेरी प्रार्थना पर पूज्य आचार्यश्री विद्यासागरजी ने उसका आद्योपान्त वाचन करके उस पर अपना अभिमत व्यक्त करने का वचन दिया, और पण्डितजी ने मेरे साथ नैनागिर जाकर नौ दिन में आचार्यश्री के समक्ष उसका वाचन किया। आचार्यश्री ने भी माताजी द्वारा संकेतित स्थलों को रेखांकित किया और उन स्थलों पर वॉछित सुधार करने का पण्डितजी को परामर्श दिया।

पण्डितजी ने बड़े अनाग्रही और सरल मनसे, जैसी किसी भी जिनवाणी--भक्त से अपेक्षा की जानी चाहिये, वे परामर्श स्वीकार किये और पूरे ग्रन्थ में संशोधन तथा वॉछित परिवर्तन करके उसकी आगमिक अस्मिता को सुनिश्चित किया। यह सारी प्रक्रिया डेढ़ माह तक मेरे घर पर ठहर कर पण्डितजी ने पूरी की। इस प्रकार अध्यात्म–अमृत–कलश के द्वितीय संशोधित संस्करण की पाण्डुलिपि तैयार हुई और उसे बनारस में छपाने की उन्होंने मुझे जिम्मेवारी सौंपी। इस संबंध में मेरा उनसे लम्बा पत्राचार हुआ जो अपने आप में रोचक है। उसे कभी बाद में प्रकाशित करने का विचार है। यहॉ वह संदर्भित नहीं है।

वे सोनगढ़ी नहीं थे

मेरी धारणा यह है कि पं.जगन्मोहनलालजी के मन में कभी सोनगढ़ के एकान्त पक्ष के लिये कोई समर्थन नहीं था। वे सदा ऐसी एकान्तिक प्ररूपणाओं के विरोधी ही रहे। परन्तु पण्डितजी अंध–भक्त भी नहीं थे। वे आगम के समर्थक और मिथ्या--रूढ़ियों तथा शिथिलाचार के विरोधी थे। इन मामलों में वे कई बार उग्र तक हो जाते थे। उन्हें सोनगढ़ी समझने में उनका यह शिथिलाचार विरोधी स्वभाव मुख्य कारण रहा। मैं वे क्षण भूल नहीं पा रहा हूं जब सोनगढ़ में, श्रीकहानजी की उपस्थिति में, विद्वत्सम्मेलन के संचालक श्री हुकमचन्द्र भारिल्ल ने पण्डितजी के व्याख्यान की भूमिका बनाते हुए यह कहा कि –"संसार में एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ को प्रभावित नहीं कर सकता– तब पण्डितजी ने वहीं अपने उद्घाटन भाषण में स्पष्ट किया कि–"स्वामीजी, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से प्रभावित नहीं होता, ऐसा प्रभाव क्या आप हम सब पर डाल सकते हैं ? यही प्रभाव लेने तो हम सब आपके पास आये हैं।" उनका वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
भाषण सुरक्षित हैं।

अध्यात्म–अमृत कलश में तथा लगभग सौ घण्टों के पण्डितजी के सुरक्षित टेप प्रवचनों में अनेक ऐसे स्पष्ट स्थल है जो प्रमाणित करते हैं कि वे कभी एकांगी विचार–धारा के समर्थक नहीं रहे। भारिल्लजी ने अपनी पुस्तक "क्रमबद्ध–पर्याय में पण्डितजी का आधा–अधूरा अभिमत छापकर उनकी छवि दूषित की, इसका पण्डितजी को अंत तक खेद रहा। .....

पण्डितजी की अडिग आस्था और स्पष्टवादिता ने उन्हें अभियोंगों और आलोचनों का केन्द्र बनाया। वे भगवान तीर्थंकर के साथ बिठाकर अन्य देवी–देवताओं की पूजा को सीधा गृहीत मिथ्यात्व कहते थे। इसके लिये इससे कोई नरम शब्द उनके पास नहीं था, इसलिये वे "मुनि–विरोधी" या सोनगढ़ी" कह दिये जाते थे। यद्यपि आयु के साथ–साथ उनका यह जुझारूपन मोंथरा होने लगा था और समाज में अशान्ति नहीं फैलना चाहिये, इसलिये विरोध भी उग्रतापूर्वक नहीं करना चाहिये, ऐसा बाद में उनका मंतव्य बन गया था। 1985 में जब मैं सोनगढ़–समीक्षा लिखकर उस नये पंथ की समालोचना कर रहा था, तब पण्डितजी नें मौखिक और लिखित, दोनों प्रकार से इस लेखन के लिये मुझे मना किया था। पर, यह कोई विशेष बात नहीं है। शायद शरीर के बुढ़ापे के साथ मन का भी बुढ़ापा आता होगा। पर यह मात्र मेरी कल्पना है, मुझे अभी तक ऐसा कोई अनुभव नहीं है।

विकलता भी उनके मन में

सत्तर के दशक की ही बात है। एक दिन मैं जयपुर में उनके साथ अमरचन्द्र के यहाँ ठहरा हुआ था। रात्रि में लगभग तीन बजे उठकर उन्होंने महाकवि भूधरदास की "बज्रनाभिचक्रवर्ती की वैराग्य–भावना" पढ़ना प्रारम्भ की। यह काव्य उन्हें कण्ठस्थ था और वे बड़े अच्छे स्वर में उसका पाठ करते थे। मुझे खेद है कि मैं उनकी वाणी में इसे टेप नहीं कर पाया। भावना की समाप्ति पर दोहे की पहली पंक्ति "परिग्रह पोट उतरि सब, लीनों चारित पंथ" जब उन्होंने पढ़ी, तब तक वे इतने भाव–विह्वल हो चुके थे कि फिर दूसरी पंक्ति उनके मुख से नहीं निकल पाई। उनका कण्ठ रूद्ध हो गया और दूसरे ही क्षण वे तकिये पर गिरकर, हिलक–हिलेक कर रो उठे। मैं पूर्व से उनकी मानसिक पीड़ा से परिचित तो था ही,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हें सम्हालने का प्रयत्न किया। किसी प्रकार पाँच–सात मिनट में वे प्रकृतिस्थ हुए। उसके उपरान्त जिन शब्दों में उस दिन उन्होंने अपना हृदय खोलकर रखा, वे शब्द नहीं थे, एक संतप्त हृदय की चीत्कार ही थे। किन्तु उनके तन–मन पर परिस्थितियों की जटिलताएं ऐसी कसावट बनाये हुए थीं कि अगले दस वर्षों तक भी वे अपनी मनचाही दिशा में कुछ विशेष कर नहीं पाये।

उन दिनों उनकी मनस्थिति कटनी छोड़कर अपने आपको कुण्डलपुर से जोड़ने की बन रही थी। उन्हें विश्वास था कि वहाँ का सातिशय, धर्मनिष्ठ वातावरण उन्हें साहस देगा और महावीर उदासीन आश्रम के रूप में उनके पिता का आदर्श उनका मार्ग–दर्शन करेगा। यह अभिलाषा लेकर उन्होंने कुण्डलपुर को अपना अस्थायी आवास बनाया भी, परन्तु उसका परिणाम कुछ और ही निकला। कुण्डलपुर में उनका आवागमन और ठहरना प्रारम्भ होते ही, उनके भक्तों तथा हितचिन्तकों ने उन्हें श्रीक्षेत्र की प्रबंध समिति का अध्यक्ष बनाकर, वहाँ की व्यवस्था का भी भार उनके कंधों पर डाल दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्था–रसिक पण्डितजी ने, वह भार भी, शायद सहर्ष स्वीकार कर लिया। कटनी की संस्थाओं का मोह छोड़ने के लालच में भटकते मन पर एक नयी संस्था का दायित्व और सवार हो गया। फिर सन् 75–76 तक का वह समय पण्डितजी के जीवन में द्विविधापूर्ण व्यस्तताओं का समय था। श्री सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि के नाम से संस्था के नये संविधान की रचना और समोशरण मन्दिर का निर्माण, इन वर्षों की उनकी उपलब्धियों के रूप में गिने जा सकते हैं। परन्तु इस बीच उनकी जो सबसे बड़ी उपलब्धि हुई वह थी पूज्य आचार्य विद्यासागरजी के चरणों का सम्पर्क। इसी बीच आचार्यश्री की अस्वस्थता के समय कटनी में, और पश्चात दो–दो चौमासों के रूप में कुण्डलपुर में पण्डितजी को आचार्यश्री का सान्निध्य मिला।

इस बीच परिस्थितियों में कुछ ऐसी नवीन जटिलताएं भी उत्पन्न होती गई कि कुण्डलपुर का प्रवास पण्डितजी के लिये शान्ति की जगह अशान्ति और आकुलताएं देने वाला बनने लगा। कटनी में घर छोड़कर उन्होंने विद्यालय में रहने का प्रयास किया। परन्तु कुछ भी करें, कटनी में उनके गृहस्थी और संस्थाओं के सम्पर्क, मात्र अलग रहने से तो ढीले नहीं पड़ सकते थे। इधर उन्हीं के आदेश–उपदेश से सतना में अमरचन्द्र ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने नव–निर्मित घर में चैत्यालय की स्थापना कर ली थी। उनका, और हम सबका आग्रह था कि पण्डितजी अब अमरचन्द्र के पास सतना में रहें। यहीं उनके अनुकूल वातावरण बनाने का प्रयास किया जाये। वे इस विचार से दो–तीन बार सतना आकर कुछ समय रहे भी, परन्तु, न जाने क्यों, सतना उन्हें बाँध नहीं पाया। यहाँ अपनी साधना स्थली बनाना उन्हें अनुकूल नहीं जँचा।

पण्डितजी की शारीरिक स्थिति दिन पर दिन क्षीण होती जा रही थी। उनकी स्मृति भी बीच–बीच में धोखा देने लगी थी। अकस्मात स्मृति का तारतम्य कुछ समय के लिये भंग हो जाता था। 86 के चौमासे की बात है। एक दिन अमरचन्द्र ने मुझ से कहा –"कक्का तुम्हारी बात ज्यादा मानते हैं, तुम आग्रह करके उन्हें सतना आकर रहने के लिये लिखो। मैंने भी पत्र लिखा है। अपन सब मिलकर उनकी अनुकूल व्यवस्था बनायेंगे।" पण्डितजी के सत्संग का प्रलोभन मेरे मन में भी कम नहीं था। मैंने एक आग्रहपूर्ण पत्र उन्हें लिख दिया। दूसरे सप्ताह मेरे पत्र का उत्तर मिला जो मानो उनके मनोभावों का एक्सरे ग्रॉफ ही था। कुण्डलपुर से 8 अगस्त 86 को लिखे अंतर्देशीय में उन्होंने मुझे लिखा –

।। श्री।।

कुण्डलपुर 8-8-86

प्रिय नीरज,

आज अमरचन्द्र का पत्र मिला। उनकी भावना बलवती है कि मैं सतना ही रहूं, उनके पास। तुम्हारे पत्र में भी यही संकेत था। मेरी बात पर ध्यान देकर निर्णय करो।

प्रत्येक आत्मा स्वयं में एक है। उसका साथ, या साथीपन केवल वर्तमान जन्म का है। वह तो मेरा अब समाप्ति की ओर है। क्या अब भी उन संबंधों का अस्तित्व माना जाये? यदि माना जाये तो कब छोड़ा जाये? या इन्हीं संबंधों की मान्यता लेकर परगति को प्रयाण किया जाये? फिर उसका फल क्या होगा? यदि पुत्र-पौत्रों के मध्य में ही आत्म-साधना सम्भव होती तो महापुरुष गृह त्यागकर वन क्यों जाते?

निमित्त तो घर में रागादि के ही हैं। यद्यपि निमित्त करता नहीं है, पर यदि उपादान में कमजोरी हो तो वह निमित्त का अवलम्बन ले स्वयं ही गढ़े में गिरता है। मैं समझता हूं, मेरा उपादान अभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
इतना बलवान नहीं बन पाया कि मैं निमित्त की उपस्थिति में रागादि रूप उपयोग से दूर रह सकूं। तब मुझे क्या करना चाहिये, स्वयं सोचो ?

जीव का पर जीव के साथ कोई संबंध नहीं है। देह के संबंध से ही संसार के सभी संबंध हैं। जब देह ही अपनी नहीं है, वह भी छोड़ने को किसी भी समय तैयार बैठी है, तब देह के संबंध के संबंधियों के बीच में बने रहना कहाँ तक उचित है?

थोड़ा ही समय है जब आत्मा इस देह को, देहज सन्मान को, देह के संबंध से प्राप्त पंचेन्द्रिय संबंधी सभी विषयों को, यहाँ ही छोड़ देगा या वे छूट ही जायेंगे। तब उनमें राग करना कहाँ तक उचित है? समय रहते ही सम्हलना चाहिये, और स्वेच्छा से उन सभी संबंधों को बुद्धि-पूर्वक तोड़ देना चाहिये।

मैंने अभी तक संस्था संबंधी जो विकल्प थे, घर संबंधी तो विकल्प नहीं थे, कारण सभी पुत्र-पौत्र भाग्यवान हैं। अपने अपने काम से लगे हैं। विवाहादि संसारी काम सबके निपट गये हैं। अतः वे सब विकल्प नहीं आते।

मात्र संस्था का मोह अभी भी चक्कर मारता है। फिर भी बहुत कुछ अपने को सम्हाला है। निर्णय लिया है कि- ''दादाजी वगैरह दानी जब अपनी सम्पत्ति नहीं सम्हाल सके, तो मैंने इतने दिन सम्हाली, अब मेरा भी समय आ गया है, सो आगे की पीढ़ी को सम्हला दिया। इसके बाद तो वही बात रहेगी कि ''जो-जो देखी वीतराग ने।''

कोई ''पर'' के ऊपर अपना स्वत्व नहीं रख सकता, न उसे परिणमा सकता। इस संस्था का, इसके द्रव्य का, जो होना होगा, होगा। मेरी चिन्ता से कोई काम होने वाला नहीं है। मेरी ही हानि है, लाभ किसी का नहीं है।

जिन का दान है, दादाजी का, मिरजापुर वालों का, सिं.तोड़रमलका, सेठ पीरामल का, वे भी सम्हाल न सके, छोड़कर जाना पड़ा, तब उनके बोझ को मैं कहाँ तक ढोऊंगा? मुझे उत्तराधिकारियों के भरोसे बिल्कुल छोड़ देना है।

यहाँ से कटनी-सतना पास है। कुछ समाचार आ जाते हैं तो कभी विकल्प भी आ जाता है। जब वहीं रहने लगूंगा तो उसी में पग जाऊंगा। अतः मैं तो यह भी सोचता हूं कि ईसरी चला जाऊं। 1-2

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माह देखकर, यदि वहाँ निर्वाह हो जाये, सत्संगति रहे, तो गुरुधाम ही श्रेष्ठ है। अभी यहाँ 5-6 ब्रह्मचारी हैं। दो व्यक्ति ज्ञानी और उत्तम साधना वाले हैं। शेष मध्यम हैं।

मेरे जीवन में चार व्यक्ति आये। 1.धन्यकुमार, 2.अमरचंद, 3. नीरज और 4. पं. कैलाशचंद। शेष सब सामान्य हैं। इन चारों के प्रति मुझे अति स्नेह रहा। अब सबसे स्नेह बंधन छुड़ाकर अपने को स्वतंत्र करना चाहता हूं। मेरी मदद करो।

अमरचंद को आप इस पत्र के आधार पर समझाना। मेरा भाव बता देना और मुझे छोड़ देना, यही मेरी विनय है।

जगन्मोहनलाल जैन

पुनश्चः अध्यात्म-अमृत-कलश की प्रसूति तुम्हारी कल्पना और प्रेरणा पर हुई। उसकी एक प्रति सोहनलाल शीलचंद ने भंवरलाल नाहटा को भेजी थी। उनका पत्र आज आया है। प्रसन्नता जाहिर की, बहुत बहुत धन्यवाद दिया, और नियमसार मूल की एक टीका का आग्रह किया है। उत्तर दे देना।

पण्डितजी का अगस्त 86 का यह पत्र उनके मन का दर्पण है। मैं इसे उनके भावी कार्यक्रम का घोषणा–पत्र या "शेष जीवन का संकल्प–पत्र" मानता हूं। मैं समझता हूं कि उस समय का उनके भीतर का सब कुछ इस पत्र में अंकित हो गया है। इस पत्र के पाने के बाद मैंने उनके प्रति इसी प्रकार सोचना प्रारम्भ कर दिया। मैं मन ही मन इस सम्भावना पर भी विचार करने लगा कि यदि पण्डितजी ईसरी जाते हैं तो मैं भी उनके साथ कुछ समय वहाँ रहने की चेष्टा करूंगा। मेरे मन में आशा जागने लगी कि शायद उनके पहुंच जाने से पारस–प्रभु के पादमूल में वर्णीयुग का साधनामय वातावरण वहाँ एक बार फिर प्रवर्तित हो जाये। परन्तु "मोरे मन कछु और है, विधना के कछु और"। पण्डितजी के स्वतंत्र होने की काल–लब्धि अभी दूर थी।

स्वाभाविक है कि अपने इस मंतव्य पर पण्डितजी ने अपने परिकर में विचार– विमर्श किया। उन्हें कुछ अन्य प्रकार के परामर्श मिले। बाहर जाकर साधना करने में अनेक प्रकार के भय उनके सामने रखे गये। इधर परिस्थितियों ने भी कुछ पल्टा खाया। कुण्डलपुर में उनके अनुकूल कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुगमताएं बनती दिखीं, पर साथ ही वहाँ समस्याओं के कुछ नवीन अंकुर भी उगते गये। कुल मिलाकर इतना ऊहापोह निर्मित हुआ कि पण्डितजी का कुण्डलपुर छोड़कर ईसरी जाने का निर्णय उसमें विलीन होकर रहा गया। इस प्रकार दो–तीन वर्ष और निकल गये। समय का चक्र किसी के लिये थमता थोड़े ही है।

एक बात बहुत अच्छी थी कि इस बीच परमपूज्य आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज से, और उनके संघ से पण्डितजी का जीवन्त सम्पर्क बना हुआ था। यही वह रिश्ता था जिसके कारण, अनेक अस्थिरताओं को जीतकर भी पण्डितजी की संकल्प–शीलता का अंकुर पोषण पा रहा था, पनप रहा था। 1976 में जब से आचार्यश्री से उनका सम्पर्क हुआ था, शायद ही ऐसा कोई वर्ष बीतता हो जब पण्डितजी आचार्यश्री के दर्शनार्थ न पहुंच जाते हों। कभी–कभी तो उनका यह सम्पर्क कई सप्ताहों का होता था। संघ के दो चातुर्मास तो कुण्डलपुर में ही हो चुके थे, जहाँ व्यवस्था में भी पण्डितजी का पर्याप्त योगदान था। फिर नैनागिर और थूबौन आदि में भी यह जीवन्त सम्पर्क बना रहा।

ब्राह्मी आश्रम और आगमिक वाचनाएं, ये दो ऐसे कारण थे जो संघ के साथ पण्डितजी को जोड़ कर रखने में बड़े सबल निमित्त साबित हुए। आश्रम की बाइयों को वे पढ़ाते थे। इस संघ की आर्यिका माताओं में बहुत कम ही ऐसी होंगी जिन्हें पण्डितजी ने कुछ न कुछ शास्त्र–शिक्षा न दी हो। इसी प्रकार जहाँ भी ग्रीष्म–कालीन आगम वाचना होती थी, समाज जिन विद्वानों को लाना चाहती, उनमें पं. कैलाशचंदजी, पं. पन्नालाल साहित्याचार्यजी, पं. फूलचंदजी और पं. जगन्मोहनलालजी का नाम प्रमुख होता था। वाचना में गहरे सत्संग के अवसर मिलते थे।

आचार्यश्री ने भी पण्डितजी के अंतरंग मंतव्य को पहिचाना था। अनेक बार उन्हें बहुत स्पष्ट दिशा–निर्देश दिये। परन्तु इस पर भी संस्थाओं से उनका संबध न छूटना था, न छूटा। आचार्यश्री की वाणी में वैसे भी विनोद के साथ तीखे व्यंग्य का पुट रहता ही है। उसी प्रवाह में एक दिन उन्होंने पण्डितजी पर एक ऐसे व्यंग्य का प्रहार किया जिसका हम लोगों ने वर्षो तक आनन्द लिया। चर्चा में धर्म्यध्यान के अंतर्गत "संस्थान विचय" की बात चल रही थी। आचार्यश्री ने पण्डितजी से पूछ लिया–"पण्डितजी, क्या संस्था विचय ध्यान को छोड़े बिना संस्थान विचय धर्म्यध्यान हो सकता है?"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाण जिस लक्ष्य की ओर छोड़ा गया था, वहाँ पूरी शक्ति के साथ उसने अपना काम किया। ऐसा समझा जाता है कि उसी व्यंग्य के फलस्वरूप संस्थाओं की ओर से पण्डितजी के मन में विरक्ति जागृत हुई। परन्तु उसकी गति अभी भी धीमी ही थी। इस प्रकार और भी कुछ काल बीत गया।

अब पण्डितजी की आयु पचासी के पार हो चुकी थी। वे हर प्रकर से सम्माननीय और अभिनन्दनीय लगने लगे थे। इधर दिगम्बर जैन समाज में एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ है जो अत्यंत अभिनन्दन प्रेमी है। जहॉ भी ऐसा कोई प्रसिद्ध और आदरणीय व्यक्ति लक्ष्य में आ जाये, उसके अभिनन्दन की बात चलने लगती है। उसके बिना व्यक्ति अधूरा माना जाता है। इसी अभिनन्दन की जड़ पर पण्डितजी के आसपास एक नये प्रभा-मण्डल का सृजन हो गया, जो विराग धारा से सर्वथा विपरीत था।

बाद के छह-सात वर्षों तक पण्डितजी के आस-पास जो घटित हुआ, उसकी स्मृतियाँ मेरे लिये अविस्मरणीय भी हैं, और पीड़ा-कारक भी हैं। अकस्मात पण्डितजी के लिये मुझ से अधिक समर्पित, मुझ से अधिक निकटस्थ, मुझ से बड़े हित-चिन्तक, और मुझ से बड़े विश्वासपात्र, कुछ नितान्त नये लोग उनके दाहिने-बॉयें प्रगट हो गये।

मेरे लिये संताप की बात यह थी कि, अपनापन दिखाने के लिये, पण्डितजी के आस-पास जो लोग इस बीच एकत्र हो गये थे, वे बेचारे उनकी देह और उनके पहनावे को ही जगन्मोहनलाल के रूप में पहचानने-देखने की भूल कर रहे थे। पण्डितजी के अंतर में झॉकने की, और उनकी मानसिक स्थिति को समझने की, न तो उनमें क्षमता थी, न उनके पास वैसी दृष्टि थी, और न ही पण्डितजी के मनोजगत तक उनकी पैठ थी। ऐसे लोगों की संकुचित दृष्यियों और स्वार्थ-प्रेरित कुटिल योजनाओं से समन्वय नहीं बिठा पाने के कारण मैं उनके लिये बाधक ही हो सकता था। वही हुआ भी। मैं पण्डितजी का "हित-विरोधी" घोषित कर दिया गया। मुझे असहिष्णु, ईर्षालु, और उनकी मान्यताओं का प्रबल विरोधी कहकर लांछित करने की चेष्टा की गई। यद्यपि इस सारे संदर्भ को "पण्डितजी की स्वीकृति से किया गया" महान कार्य कहा गया, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इसमें उनकी स्वीकृति-अस्वीकृति की कोई चिन्ता नहीं की गई। उनकी क्षीण होती स्मृति और दुर्बल होती संकल्प-शक्ति का अनुचित लाभ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उठाकर, असंबद्ध लोगों के निर्णय उन पर थोपे गये और कभी उनकी चुप्पी को तथा कभी उनकी मुस्कान को स्वीकृति घोषित करके उनके मंतव्य की खुली अवहेलना की गई।

इस प्रकार पण्डितजी के अंतिम वर्षों के लिये, उनके चार महत्वपूर्ण हित–चिन्तकों में से एक, मैं, उनका सातवॉ बेटा, उनकी सेवा–सम्हार से वंचित होता चला गया।

उनका साधुवाद-समारोह और पुरस्कार

फिर पण्डितजी के जीवन की दो उल्लेखनीय घटनाएं घटित हुई। मार्च 1990 में सतना में उनके अभिवन्दन के नाम पर उनके लिये "साधुवाद–समारोह" का आयोजन हुआ तथा जून 1992 में राष्ट्रीय स्तर का एक बड़ा सम्मान तथा पुरस्कार प्राप्त करने के लिये उन्हें दिल्ली ले जाया गया। आज भी मेरा निश्चित मत है, और मेरे पास ऐसा विश्वास करने के लिये पर्याप्त कारण हैं किं, इन दोनों आयोजनों के लिये पण्डितजी की सहमति की विशेष चिन्ता नहीं की गई। पूर्व में उनके द्वारा स्पष्ट मौखिक और लिखित निषेध किये जाने के बावजूद, उनकी क्षीण होती हुई संकल्प–शक्ति का लाभ लेकर उन्हें झुकाया गया। शायद नहीं चाहते हुए ही वे इन समारोहों के नायक बने। पण्डितजी के अभिनन्दन की एक लम्बी पृष्ठभूमि है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख यहॉ अप्रसंगिक न होगा।

भगवान महावीर का 2500 वॉ निर्वाण महोत्सव वर्ष मनाते समय, 1975 में, सर्व प्रथम अमरपाटन में सिंघई शिखरचन्द्रजी ने मुझ से पण्डितजी का अभिनन्दन समारोह आयोजित करने और उसकी व्यवस्था का दायित्व लेने का आग्रह किया। मुझे उनके इस प्रस्ताव से बड़ी प्रसन्नता हुई। बड़े उत्साह से मैंने वह प्रस्ताव पण्डितजी के सामने रखा, पर पण्डितजी ने उसे स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। उन्होंने मुझे यह भी ताकीद की कि–"मेरे लिये कभी इस प्रकार की बाहियात चर्चा में मत पड़ना।" मैंने दूसरे सप्ताह अमरपाटन जाकर सिंघईजी को पण्डितजी की प्रतिक्रिया की जानकारी दी और उनके प्रस्ताव पर अपनी असमर्थता व्यक्त करके क्षमा याचना कर ली।

दो वर्ष के पश्चात, 1977 में जबलपुर में सवाई सिंघई हरिश्चन्द्रजी ने तथा दादा नेमीचन्दजी ने यही प्रस्ताव मेरे समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने इसके लिये लगभग दो लाख रुपयों का प्रावधान करने की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी योजना बनाई। मैंने हिम्मत करके एक बार पुनः पण्डितजी से इस बारे में बात की, पर, वे टस से मस न हुए। इसके पूर्व उनके साथी जिन विद्वानों के अभिनन्दन–ग्रन्थ छप चुके थे, और उनके समर्पण–समारोह मनाये जा चुके थे, उनकी अंतरंग कथा भी पण्डितजी ने मुझे सुनाई और कहा– "जिसका अपमान कराना हो, उसका अभिनन्दन–ग्रन्थ निकलवा देना चाहिये। फिर स्वयं सब कुछ हो जायेगा।" दादा नेमीचन्द्रजी ने एक बार फिर सारी योजना लिखित रूप में मेरे पास भिजवा कर प्रयास करनें को लिखा। इस बीच सिवनी से बिरदीचन्द्रजी का भी ऐसा ही पत्र आया। पण्डितजी से मेरे संबंधों के कारण इन लोगों ने यह समझ लिया था कि यदि मैं प्रयास करुंगा तो पण्डितजी को मना लूंगा। परन्तु यही एक ऐसा विषय था जिसके बारे में मैं कभी उनके संकोच का लाभ नहीं उठाना चाहता था। सदा उनके तर्क इतने ठोस थे कि मुझे उनसे ही सहमत होना ठीक लगता था।

ऐसे स्पष्ट निषेधों के बावजूद जबलपुर से ही एक अति–उत्साही बंधु ने उनके अभिनन्दन की योजना बना ली और कार्यारम्भ कर दिया। इस योजना को कौशल–पूर्वक हम सबसे गुप्त ही रखा गया परन्तु साहु श्रेयांसप्रसादजी के एक पत्र से मुझे उसका संकेत मिल गया। उस दिन पण्डितजी सतना में ही थे। जब मैंने यह शुभ–समाचार उन्हें दिया तब वे चिन्तित हो उठे। उन्होंने तत्काल अमरचन्द्र से सभी संबंधित जनों को अपने सामने निषेध के पत्र लिखवाये और मुझसे जैन पत्रों में उनकी ओर से एक स्पष्ट निषेधात्मक विज्ञप्ति प्रकाशित कराने को कहा। इस प्रकार उस अभियान का अंत हुआ।

इसी बीच वह स्थिति निर्मित हुई जब इस सबकी भनक पाकर एक प्रसिद्ध "अभिनन्दन–विशारद" अपने आप बीच में आ गये। उन्होंने जबलपुर से पूरी पत्रावली प्राप्त कर ली और अपने ढंग से काम को गति देने का उद्योग प्रारम्भ कर दिया। पण्डितजी के कहने से मैंने निषेध का एक प्रयास किया तो उन्होंने मुझे, समाज में विक्षोभ फैलाने का दोषी करार दे दिया। हारकर पण्डितजी ने स्वयं उनके पास अपना विनय पत्र भेजने का निर्णय किया। दिनांक 16 फरवरी 87 को पण्डितजी ने जो पत्र उन सज्जन की सेवा में प्रेषित किया वह अपने आप में पूरा इतिहास है। पत्र इस प्रकार है–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदरणीय भाई नन्दलालजी, 16-2-1987

सविनय जयजिनेश.

आपका 19-1-87 का पत्र मिला। साथ में 20-22 विद्वानों के हस्ताक्षर सहित पत्र भी मिला।

आप सब प्रबुद्ध जन मेरे अभिनन्दन को प्रकाशित करने के लिये उत्सुक हैं यह मेरे प्रति आपकी स्नेह-भावना का प्रतीक है। मैं आपकी इस भावना का आदर करता हूं और कृतज्ञ हूं। इस संबंध में केवल दो बातें मुझे कहनी है-

1. मेरी अभिनन्दन योजना के निषेध में चिरं. अमरचन्द और चिरं. नीरज ने पत्रों में जो भी लिखा है, वह मेरी हार्दिक भावना को ही प्रतिबिम्बित करता है। उसे लेकर समाज में क्षोभ उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि निषेध उन्होंने नहीं, मैंने ही किया है।

2. अभिनन्दन के संबंध में मैं अपना मंतव्य स्पष्टतः आपको व श्री आजाद जी को व्यक्त कर चुका हूं। यहाँ पुनः लिखता हूं कि मैं कभी उसके लिये अपने आपको न तैयार कर पाया हूं, और न कर पाऊंगा। आप सब की मुझ पर कितनी भी श्रद्धा हो, पर वह इस रूप में न हो, यह मेरा आग्रह पूर्वक अनुरोध है।

मैं यहाँ कुण्डलपुर में, अपने जीवन के 86 वर्ष बिताकर, शेष बचे अल्प जीवन में, कषायों का उपशम करते हुए, आत्म-कल्याण के लिये कटिबद्ध हूं, अतः मान-सम्मान वर्द्धक कार्य मेरी साधना में बाधक हैं। आपसे सविनय अनुरोध है कि इस योजना को निरस्त करके मेरी साधना में साधक बनें। मेरे इस निषेध से आपको या जिन्हें भी संकोच हुआ हो वे मेरी भावना समझते हुए मुझे क्षमा करें और इस निषेध को मेरी दृढ़ और अंतिम विनय मानते हुए, आगे इस दिशा में कोई उद्योग न करें, यही मेरा सबसे अनुरोध है।

भवदीय,

जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री

पण्डितजी का यह पत्र दूसरा दस्तावेज है जिससे उनकी मानसिकता को भलीभाँति समझा जा सकता है। परन्तु उनके अंतरमन के इस चीत्कार को सुनने वाला उस भीड़ में कोई नहीं था। इसलिये कि सुनने के लिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल श्रवण पर्याप्त नहीं थे। इसके लिये तो मन से मन का तारतम्य आवश्यक होता है। वह वहाँ कहाँ था?

कुछ नहीं हो सका और सब कुछ होता रहा। उनका "अभिवन्दन-ग्रन्थ" छप गया और उसके समर्पण के लिये सतना में बड़े स्तर पर "साधुवाद समारोह" का आयोजन हुआ। समारोह पण्डितजी की प्रसिद्धि के अनुरूप शानदार ढंग से सम्पन्न हुआ। तीन दिन तक वह उपसर्ग वे झेलते रहे।

उस समय मैं अपनी इस विवशता से पीड़ित था कि उनके अंतरमन का साक्षी होते हुए भी मैं चाहते हुए भी उनकी उस पीड़ा का कोई उपचार कर नहीं पाया। आज भी अपने मन की उस पीड़ा के स्मरण मात्र से सिहर उठता हूं। पर, उसके लिये किसी अन्य को दोषी, न तो मैंने तब माना था, न आज मान रहा हूं। इस सारे घटनाचक्र के पीछे मैं एक ही तत्व को दोषी मानता हूं, और वह तत्व है "मेरा कर्मोदय"।

ऐसा नहीं है कि पण्डितजी के मन की उस वेदना को किसी ने भी अनुभव न क़िया हो। थे वहाँ कुछ लोग जो उनकी इस मनस्थिति का सही आकलन कर रहे थे, परन्तु उनमें से कोई भी मुखर नहीं हो सका। वहाँ उसके लिये कोई अवकाश ही नहीं था। न जाने कैसे एक नवयुवक ने भी उनकी पीड़ा को समझा और उस दिन अपनी डायरी में अंकित किया-

"कैसी छटपटाहट थी उनके मन में कि समाज साधुवाद का समारोह मनाने के बहाने मान कषाय को पुष्ट करने के साधन जुटाने में व्यस्त थी, और वे अपने परमार्थ की सिद्धि के लिये मन ही मन समाज से याचना कर रहे थे।"

उस नवयुवक का नाम था सिद्धार्थ।

अभिनन्दन और सम्मान का यह सिलसिला यहीं समाप्त नहीं हुआ। साधुवाद समारोह के दो साल बाद एक बड़ा सम्मान प्राप्त कराने के लिये उन्हें दिल्ली की यात्रा कराई गई। इस अवसर पर पण्डितजी को इक्यावन हजार रुपये की सम्मान-निधि भी भेंट की गई। यह राशि उन्होंने अपने पारिवारिक न्यास को भेंट कर दी जिसका उपयोग जिनवाणी-प्रचार में होगा।

इन दोनों अवसरों पर मैं बहुत दूर बैठा हुआ, उदास मन से देख रहा था कि पण्डितजी के पूर्व व्यक्त संकल्पों में और इन वास्तविकताओं में कितना विरोधाभास है। मुझे लगता है कि ये दोनों सम्मान-समारोह इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narja, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बात का प्रमाण हैं कि परिस्थितियाँ मनुष्य को कितना भटकने पर मजबूर कर सकती हैं।

हम रागी लोग मन कर लें तो किसी विरागी को कितना और कैसा–कैसा नाच नचा सकते हैं? जिसने अपना मंतव्य व्यक्त किया था कि "मैं अभिनन्दन के लिये अपने आपको न कभी तैयार कर पाया हूं, और न कर पाऊंगा।" जिसकी प्रार्थना थी कि "मेरे निषेध को मेरी दृढ़ और अंतिम विनय मानते हुए इस दिशा में कोई उद्योग न करें", उस साधक की उस विनय को कितना उपेक्षित करके, उसकी भावनाओं और उसके संकल्पों को रोंदते हुए, उसे घेरकर अभिनन्दन का शानदार जश्न मनाया जा रहा था। जिसने संस्थाओं के व्यामोह से अपने आपको सर्वथा मुक्त घोषित कर लिया था, उस पर अवांछित दबाव डालकर उससे संस्थाओं के पदाधिकारियों का मनोनयन कराया जा रहा था, और जिसे कटनी तथा सतना के समाचार भी साधना में बाधा बनने लगे थे, जिससे बचने के लिये पूर्व दिशा में गुरुपीठ की ओर हजार किलोमीटर दूर जा बैठने की मंशा जाहिर की थी, उसे राज–पुरुषों के हाथों पुरस्कृत होने के लिये उत्तर दिशा में दो हजार किलोमीटर की यात्रा कराई जा रही थी। आधि–व्याधि और उपाधि, इन तीनों बाधाओं से बचकर जो समाधि–साधना के निमित्त तलाशने के लिये व्याकुल था, उसे कितने लुभावने ढंग से उन्हीं तीन में उलझाने की कोशिश की जा रही थी।

यह सारी आयोजना इसलिये हो रही थी कि अब पण्डितजी के मानस को, और उनके मन की विकलता को समझने की फुरसत, या पात्रता किसी के पास नहीं थी। जो वहाँ थे वे सब अपने ही पैमाने से उन्हें नापने का बचपना दिखा रहे थे। अभिवन्दन की श्रृंखला में उन्हें प्रणाम करने का मुझे भी अवसर दिया गया। मैंने अपना जो वक्तव्य पढ़ा वह अविकल यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूं।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित श्री जगन्मोहनलाल शास्त्री

साधुवाद समारोह : सतना : 12 अप्रेल : 1990 नीरज जैन की विनयांजली

श्रद्धेय पण्डितजी,

वर्षा के जल से फलता-फूलता नारियल का वृक्ष, अपने हरे कच्चे फलों में स्वादिष्ट जल लेकर ऊपर बादलों की ओर बढ़ता जाता है। जिन्होंने बार बार उसकी जड़ों को सींचा था, उस बादल के प्रति वही जल चढ़ाकर वह वृक्ष अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता है। यद्यपि बादलों की ऊंचाई तक उसकी पहुँच नहीं हो पाती और उसका जल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसी नारियल में सूख जाता है, परन्तु इससे क्या अन्तर पड़ सकता है। श्रीफल के पादप का प्रयास उसे संतुष्ट तो कर ही जाता है।

आज जब मध्यप्रदेश के हम लोगों के साथ, महाराष्ट्र, तमिलनाडू, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, बिहार और बंगाल तक से आकर प्रायः पूरा जैन समाज आपके इस अभिनन्दन समारोह में उपस्थित होकर गौरवान्वित हो रहा है, तब मेरी स्थिति उस कच्चे नारियल सी हो रही है। कृतज्ञता के जो तोतले वाक्य मैंने अपने मन में आपके लिये संजोये हैं वे आप तक पहुँचाने का उद्यम मेरी समस्या बन गया है। मेरे प्रयास अत्यन्त बचकाने हैं और आपकी ऊंचाई तक शायद वे स्पर्श नहीं कर पायेंगे। फिर भी मैं प्रयास कर रहा हूं, शायद इसी का नाम बाल-हठ कहा गया होगा।

आपने ही कभी बताया था कि आपके जीवन का प्रारम्भ पूज्य बाबा गणेशप्रसादजी वर्णी के आशीर्वाद से हुआ था। बारह वर्ष की असमझ आयु में उन्होंने परिग्रह परिमाण व्रत प्रदान करके आपकी झोली में जो पाथेय डाल दिया था, पूरी जीवन यात्रा में वही आपका सर्वोपरि सहारा बनकर रहा। आगे अड़तालीस साल तक, आपकी जीवन यात्रा में जब जब कोई मोड़ आया, वही महान संत आपको मार्ग बताने के लिये आपके सामने रहे। ऐसे एक बड़े मोड़ पर, और शायद अन्तिम मोड़ पर, जब वे जा चुके थे तब, उनकी धधकती चिता से आपने मार्ग-दर्शन प्राप्त किया था। यह मेरा भाग्य था कि मैं उन क्षणों का साक्षी बना।

उनतीस वर्ष बीत गये। 1961 के भादों में जिस दिन पूज्य वर्णी जी की समाधि हुई, मेरा तार पाकर आप ईसरी पहुँचे थे परन्तु तब तक उन संत का नश्वर शरीर चिता को समर्पित किया जा चुका था और अग्नि की ज्वालाओं ने उसका आलिंगन करने में उस दिन बड़ी आतुरता दिखाई थी। आप पहुँचे तब वही ज्वालायें, उस चिता को देखकर आपके मन में भी धधक उठी थीं। मैंने उनकी उष्णता अतिनिकट से महसूस की थी।

मन तो आपका यात्रा में ही शायद बन गया था। जाते ही आपने चन्दन माँगा और अँजुरी में चन्दन लेकर मेरा हाथ पकड़े हुए आप उस पावन चिता की ओर बड़े संकल्पित मन से उस दिन बढ़े थे। उस समय आपने मन की जो कसमसाहट शब्दों में व्यक्त की वह आज भी अक्षर-अक्षर मुझे याद है- ''नीरज, पिछले दो वर्षों में तीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बार ऐसा हुआ कि बाबाजी ने बिना किसी प्रसंग के हमें याद दिलाया- भैया तुम्हारे पिता ने हमें ब्रह्मचर्य के व्रत लिवाये थे। आपने कहा था- हमें हर बार ऐसा लगा कि हमारे भविष्य के लिये कोई दिशा-निर्देश, कोई प्रेरणा इन शब्दों में गूंज रही है। एक बार हमारे मन में आया कि हम कह दें कि- "महाराज, हमारे पिता ने आपको दिये थे तो आप हमें दे दो, परन्तु हम इतना साहस नहीं कर पाये।"

एक बार आँसू पोंछकर भरे गले से आपने फिर कहा था- "आज ऐसा लगता है कि आज भी हम बाबाजी का वह इशारा न समझ पाये तो यह हमारी बड़ी भूल होगी, इसलिये उनकी चिता को साक्षी बनाकर हम यहीं आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प करते हैं।" इन्हीं शब्दों के साथ उस दिन आपने अपने गुरु की चिता पर चन्दन समर्पित किया था।

आज अपनी कृतज्ञता के रूप में, उस अनोखी दीक्षा की स्मृति को दोहराते हुए, बाबाजी के स्मृति-ग्रन्थ की एक प्रति, जिसमें मैंने यह घटना प्रकाशित की थी, आपको समर्पित करके प्रणाम करूं, इससे बड़ा कोई अभिनन्दन, कोई उपहार, मेरी सामर्थ्य में नहीं है।

यह आपकी गुरु-भक्ति का कौशल था कि पूज्य बाबाजी की पर्याय परिवर्तित हो जाने के बाद भी वे आपके लिये प्रेरणा का स्रोत बने रहे। "अध्यात्म-अमृत-कलश की रचना करके आपने प्रमाणित कर दिया कि वह शास्वत प्रेरणा-स्रोत आज भी आपके भीतर छलक रहा है। वह हमेशा ऐसा ही छलकता रहे यह मेरी अंतरंग की अभिलाषा है।

मैं कामना करता हूं पण्डितजी, कि इसी प्रकार, एक दिन, इसी प्रांगण में हम सब मिलकर आपका शताब्दी समारोह, आपकी उपस्थिति में मनायें और आपका आशीर्वाद प्राप्त करें। मेरी यह भी मंगल कामना है कि शेष जीवन में आपका मन और शरीर दोनों स्वस्थ्य रहें, और पूज्य बाबाजी की प्रेरक स्मृतियाँ सदा आपका मार्ग-दर्शन करती रहें। आपको बधाई।

- आपका एक बेटा

समय बीतता गया। मान–सम्मान का सैलाब झेलते हुए, या मेरी भाषा में, स्वजन–कृत उन सारे उपसर्गों को सहते हुए, शीघ्र ही पण्डितजी ने, शायद अकेले अपने पुरुषार्थ से ही, अपनी यात्रा को लक्ष्य की ओर मोड़ लिया। समाधि–साधना के लिये उन्होंने अपने आपको "समाधि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
सम्राट" के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया। वे बार–बार उनके दर्शनार्थ जाते रहे और परामर्श प्राप्त करते रहे।

अंतिम आहुति

पूज्य आचार्यश्री विद्यासागरजी सचमुच करुणा के सागर हैं। उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों की तरह, बार–बार यह रेखांकित किया है कि मनुष्य पर्याय में समाधि–साधना कितना महत्वपूर्ण अनुष्ठान है। शायद उनकी भावना और पण्डितजी के पुण्य की धारा का संगम हो गया। आचार्यश्री ने संघ सहित कुण्डलपुर में ही अपना चातुर्मास स्थापित कर लिया। इसकी सम्भावना भॉप कर ही पण्डितजी वहाँ पहले ही पहुॅच गये थे। उन श्रीचरणों के आश्रय में उनकी समाधि–साधना प्रारम्भ हो गई। साढ़े तीन महीनों तक उनका वह पवित्र और अंतिम अनुष्ठान चलता रहा।

पण्डितजी को ये अनुकूलताएं पाने के लिये बहुत अधिक प्रतीक्षा करना पड़ी थी। इस पर भी जैसी निस्संग और निराकुल साधना की कल्पना उन्होंने, वर्णीजी के समाधि–स्थल पर की थी, वैसी साधना के निमित्त उन्हें नहीं मिल पाये। नौ वर्ष पूर्व कुण्डलपुर में बैठकर कटनी और सतना से कुटुम्ब और परिवार के समाचार पाना भी जिसे अपनी साधना में बाधक और रागात्मक लगता था, उससे बचने के लिये जो दूर, ईसरी जाकर साधना करने की आकाँक्षा करता था, उस साधक को कुछ दिन भी परिवार से पृथक् रहने का अवसर नहीं मिला। जिसने एक दिन पत्र द्वारा मुझसे प्रश्न किया था कि –"यदि पुत्र–पौत्रों के मध्य में ही उत्तम साधना सम्भव होती तो महापुरुष गृह त्याग कर वन में क्यों जाते?" उस शास्त्रज्ञ मुमुक्षु को उन्हीं पुत्रों–पौत्रों के बीच घिरे रहकर अपनी अनासक्ति की परीक्षा देना पड़ रही थी। जिसका अनुभव था कि– "मेरा उपादान अभी इतना बलवान नहीं बन पाया कि मैं निमित्तों की उपस्थिति में रागादि रूप उपयोग से बचा रह सकूं" उसे उन्हीं निमित्तों के बीच अपने उपयोग की रक्षा का उपाय करना था।

इस विसंगति का कारण यही था कि पण्डितजी के अभिप्राय को या तो समय पर समझा नहीं गया, या उसकी चिन्ता नहीं की गई। वे वीतरागता की उपसना करने में दत्त–चित्त होना चाहते थे और उनके चारों ओर उत्कृष्ट राग–प्रेरित, संयोगानन्दी परिजनों की बहुलता थी। पर, इसमें किसी का दोष ढूंढ़ना मेरा अभिप्राय नहीं है। राग की परिणति तो ऐसी ही जटिल होती है। भगवान राम जब घोर तप में लीन थे, तब सीता का जीव, अवधिज्ञान की उपेक्षा करते हुए, स्वर्ग से उतर कर उन्हें डिगाने आया था। द्वेष वश नहीं, राग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
वश ही तो। भगवान ऋषभदेव का जब निर्वाण हुआ, तब उनके वियोग में रुदन करने वालों में भरत सबसे आगे थे। ये वही भरत महाराज थे। जिनकी अनासक्त आत्मा में अंतर्मुहूर्त के भीतर केवलज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति जागृत हो रही थी। बड़ी विचित्र होती है राग की परिणति। उसे छोड़ना तो कठिन है ही, उसका रहस्य समझना भी आसान नहीं है। उस समय समाधि–संलग्न जगन्मोहनलालजी का एक ही बल था, अपने आराध्य के चरण। वे निरन्तर प्रतिदिन तालाब के मन्दिर तक जाते, वहीं से बड़ेबाबा को अर्घ्य चढ़ाते और अपने निर्यापक आचार्य विद्यासागरजी का चरण–स्पर्श करके लौट आते थे। इस एक पावन स्पर्श से उनकी बैटरी इतनी चार्ज हो जाती थी जो चौबीस घण्टों तक उनका मार्ग प्रकाशित करने के लिये पर्याप्त होती थी।

यह पण्डितजी के प्रबल पुण्योदय का ही फल था कि, देह की बढ़ती अशक्ति के बावजूद, उनका आत्मबल अक्षुण्ण था। कुछ समय पूर्व, सम्मानार्थी परिकर के बीच, उनकी संकल्प–शक्ति, जो क्षीणप्राय हो गई थी, वह पुनः जागृत हो गई। फिर ये सारी परिस्थितियाँ उनके संकल्प को तनिक सी भी दुर्बलता नहीं दे पाई। उल्टे उनका संकल्प प्रतिक्षण सबल बनता गया। शायद यही पण्डितजी के प्रबल पुरुषार्थ का ज्वलंत प्रमाण है।

यह भी बड़े संतोष की बात रही कि, जिन श्रीचरणों में बैठकर पण्डितजी ने अपने अनुष्ठान का मंगलाचरण किया था, उन्हीं श्रीचरणों का स्पर्श करते हुए, उन्हीं के श्रीमुख से महामंत्र का उच्चार सुनते हुए, पण्डितजी ने उस यज्ञ में अपनी सांसों की अंतिम आहुति समर्पित की। उनके पिताजी श्रीक्षेत्र पर उदासीन आश्रम के संस्थापक होकर भी जिस आश्रम में अंतिम सांस नहीं ले पाये थे, उसी उदासीन आश्रम में पण्डितजी को समाधि–मरण प्राप्त हुआ। जिस साधना का आदर्श, उनके पिता ने बाल्यकाल में उन्हें समझाया था, चौरासी साल पहले उनकी किशोरावस्था में, पूज्य वर्णीजी ने अपरिग्रही जीवन का जो लक्ष्य उनके सामने रखा था, जिस लक्ष्य को अपनी पचास साल की आयु में, पत्र में लिखकर अपने बेटे पर उन्होंने व्यक्त कर दिया था, और जिस लक्ष्य की ओर यात्रा करने के लिये वे पच्चीस–तीस वर्षों से छटपटाहट का अनुभव कर रहे थे, अंत में अपनी निष्ठा और लगन से, पंचानवे वर्ष की आयु में वह लक्ष्य उन्होंने प्राप्त कर लिया।

आज उनकी प्रथम पुण्यतिथि पर, अपने ये शब्द–सुमन, इन पन्नों पर बिखेर कर मैं, उनका सातवाँ बेटा, उन्हें प्रणाम करता हूं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

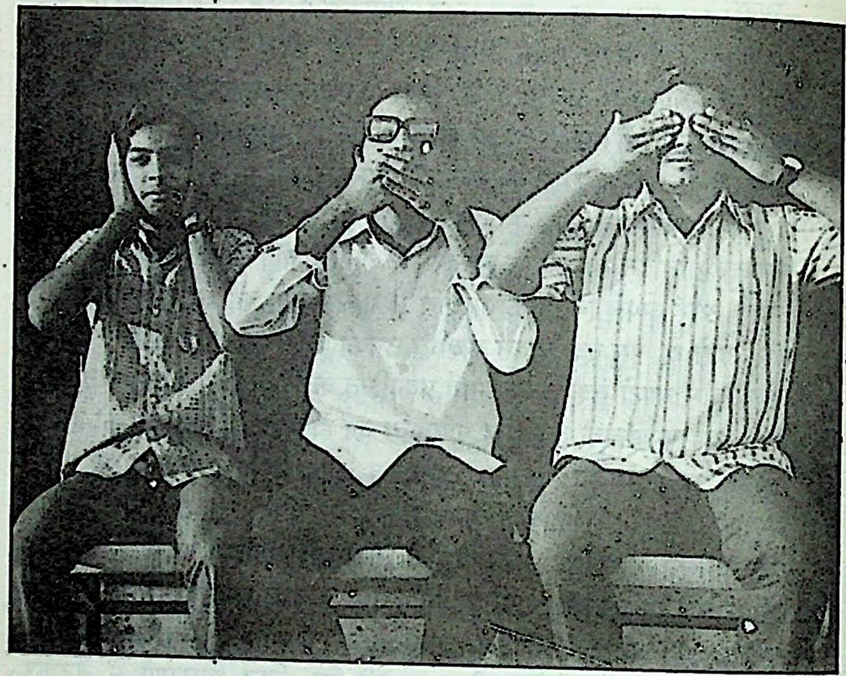

सन् 1974 में ऐसे माध्यमों से पण्डितजी ने तीसरी पीढ़ी को शिक्षा दी और उनके संकेत मात्र से पौत्रों ने दवा की फेक्ट्री बन्द कर दी, उसे मात्र लाभ कमाने का माध्यम नहीं वनाया।

पण्डितज़ी भाषण देते हुए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिताजी का समाधिमरण : कुछ स्मृतियाँ

❑ सिद्धार्थकुमार जैन

बचपन में जब मैंने होश सम्हाला तो मुझे धुंधली सी याद है कि मेरे पूज्य पिता पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कहा करते थे कि मैंने परिग्रह परिमाणव्रत लिया है। किन्तु उस समय में उक्त शब्द से अपरिचित था और उसके अर्थ जानने का तो प्रश्न ही नहीं था। हाँ! वे खान–पान में अनेक नियमों का पालन करते थे, मन्दिर जाते थे, प्रवचन करते थे, विद्यालय पढ़ाने जाते थे, और कभी–कभी प्रवास में भी जाते थे। घर पर प्रायः विद्वान् आते रहते थे। इससे इतना ही समझता था कि मेरे पिताजी की समाज एवं विद्वानों में अच्छी प्रतिष्ठा है।

आचार्य विद्यासागरजी महाराज के 1976 में बुन्देलखण्ड में प्रवेश के साथ पिताजी को उनका सान्निध्य निरंतर प्राप्त होता रहा है।

सन् 1989 में परम पूज्य 108 आचार्य विद्यासागरजी महाराज का कुण्डलपुर में ससंघ चतुर्मास हुआ। पिताजी संघ के दर्शनार्थ कुण्डलपुर गये। पिताजी की उम्रगत शारीरिक शिथिलता को देखते हुए एक क्षुल्लक जी महाराज ने प्रश्न किया–

--"पण्डित जी! सल्लेखना की तैयारी ?"

–"हाँ महाराज! दस वर्षों से तैयार हूँ–" पिताजी ने उत्तर दिया।

उनके दस दृढ़तापूर्वक उत्तर का मूल कारण यह था कि पिताजी इधर अनेक वर्षों से घर–गृहस्थी के कार्यों से प्रायः उदासीन थे। इसीलिये उन्होंने अपने पूज्य पिता ब्र. बाबा गोकुलप्रसाद जी द्वारा स्थापित महावीर उदासीन आश्रम कुण्डलपुर में रहना स्वीकार किया और क्रमशः गृह–कार्यों से विरक्त होते गये। शादी–विवाह जैसे कार्यों की अनुमोदना भी प्रायः बन्द कर दी तथा परिग्रह की तरह आरम्भ भी सीमित होता गया।

वे प्रतिवर्ष पूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के चातुर्मास स्थल पर गये। अपने व्रतों और शारीरिक स्थिति पर भी आचार्यश्री से विचार–विमर्श करते रहे। उनका यह क्रम जीवन पर्यन्त चलता रहा।

अप्रैल सन् 1990 में जब सतना में देश के विभिन्न प्रान्तों से पधारे–विद्वानों और समाज के श्रीमन्तों की उपस्थिति में पिताजी के सम्मान में साधुवाद समारोह आयोजित किया गया, तब उन्होंने अपने सम्मान के उत्तर में यह भी कहा था–"हमें अपनी कषायों की कृशता करनी है और इस हेतु कुण्डलपुर में रहकर मैं यह कार्य बढ़ाना चाहता हूँ इसलिये हमारा सहयोग करें। ताकि हम वहां निराकुल रह सकें।"

कैसी छटपटाहट थी उनके मन में। समाज साधुवाद समारोह के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
बहीने मान कषाय की पुष्ट करने के साधन जुटाने में व्यस्त थी और वे अपने परमार्थ की सिद्धि के लिये समाज के सहयोग की याचना कर रहे थे।

सन् 1993 में पूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज का ससंघ चातुर्मास रामटेक में हुआ। पर्यूषण पर्व चल रहा था। जब पिताजी संघ के दर्शनार्थ वहां पहुंचे तो आचार्यश्री को आश्चर्य हुआ कि पर्व के मध्य में आने का कारण क्या है? जब प्रातः पिताजी ने आचार्यश्री के दर्शन किये तो आचार्यश्री ने पहला प्रश्न किया–

पण्डित जी! पर्यूषण पर्व के मध्य में आये हैं, क्या वात है?

"काफी समय से आपके और संघ के दर्शन नहीं हुये। काया प्रति क्षण क्षीण होती जा रही है। अवस्था भी वढ़ रही है, कहीं चूक न हो जाय आपके दर्शन कर आगे के लिये निर्देश मिल जाने से सन्तोष हो जाता है।"

थोड़ा रुककर पण्डित जी ने पुनः कहा–

"कदाचित् ऐसा समय आ जावे कि मैं आपके पास न पहुँच पाऊँ तो ये वच्चा (सिद्धार्थ) है। यह सव कुछ करा सकता है, इसे निर्देश दीजिये।"

आचार्यश्री पण्डित जी को आश्वस्त करते हुये बोले–

"पण्डितजी! यदि ऐसा मौका आ जावे तो आप हमारे पास आ जावें, सभी समुचित व्यवस्था हो जायेगी। आप विकल्प न करें। सव कुछ अच्छा होगा। आप तो स्वयं भी सतर्क हैं।"

इसी क्रम में पूज्य आचार्यश्री ने मुझे पण्डित प्रवर आशाधर जी रचित सागार धर्मामृत के सल्लेखना प्रकरण के अध्ययन करने का निर्देश दिया और पिताजी की ओर देखकर कहा– **पण्डित जी! अव शाम का भोजन वन्द करें और फलों का रस तथा अच्छा उवला हुआ जल ज्यादा मात्रा में लेना प्रारम्भ करें। शाम को क्रमशः रस लेना भी वन्द करना है और खाली जल रखना है।**

सन् 1994 में पिताजी ने पूज्य मुनि 108 श्री समतासागर जी, पूज्यमुनि 108 श्री प्रमाणसागर जी एवं पूज्य क्षुल्लकश्री 105 निश्चयसागर जी से निवेदन किया कि–"हमारा समय नजदीक है और पूज्य आचार्यश्री यहाँ से काफी दूर रामटेक में हैं। यदि अकस्मात् समय आ जाये तो आप हमारे कल्याण हेतु, कटनी में ही चतुर्मास करें, ऐसा विनम्र निवेदन है।" पूज्य आचार्यश्री के निर्देश और संघ की अनुकम्पा से ऐसा ही हुआ।

सन् 1994 के चातुर्मास के मध्य पिताजी ने रामटेक जाकर मुनिसंघ का दर्शन किया और आचार्यश्री से आगे के लिये निर्देश प्राप्त किये।

इधर कटनी में पूज्य मुनि द्वय एवं क्षुल्लकश्री के सान्निध्य में चातुर्मास काल में भगवती आराधना का स्वाध्याय चला। इस अवसर पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
पिताजी ने भी पूरे समय एक श्रोता के रूप में स्वाध्याय का आद्यन्त लाभ लिया और अपने समाधि के संकल्प के प्रति दृढ़ हुये तथा प्रतिपल सावधान भी।

पिताजी की यह अन्तिम इच्छा थी कि कुण्डलपुर में ही अपनी समाधि सम्पन्न करूँ। पारिवारिकजनों ने उनकी इस भावना को मूर्त्त रूप देने का निश्चय किया और बड़े भैया ने तो पूरे समय पिताजी के साथ रहने का संकल्प ही ले लिया।

24 जून 95 को समाधि साधना के लिये पिताजी कुण्डलपुर पहुंच गए। आचार्यश्री ने प्रथम दर्शन के समय कहा–

"पण्डित जी! जिस तरह मन्दिर की शोभा शिखर से और शिखर की शोभा कलश से होती है, उसी तरह इस व्रती जीवन की शोभा समाधिमरण से होती है।"

पिताजी ने उल्लासपूर्वक उत्तर दिया

"हाँ महाराज़! यही कलशारोहण करने यहाँ कुण्डलपुर में आपके पास आया हूँ।"

कुण्डलपुर आगमन और आचार्यश्री का ससंघ सान्निध्य प्राप्त कर पिताजी अत्यन्त प्रसन्न थे तथा अपने आपको आश्वस्त अनुभव कर रहे थे। प्रतिदिन प्रातः 5 बजे उठकर सामायिक करना, फिर एक्यूप्रेशर द्वारा शारीरिक मांसपेशियों को स्थिर करना, शौचादि के पश्चात् शरीर की थोड़ी सी मालिश कराना पुनः नहाधोकर मन्दिर जाना और वहाँ दर्शन कर द्रव्य से नियमित पूजन करना। उसके बाद नियम से प्रातः ठीक नौ बजे पूज्य आचार्यश्री के दर्शन करना उनकी दिनचर्या का अंग बन गया। यह क्रम अंतिम 105 दिन 7 अक्टूबर तक रहा।

धीरे–धीरे पिताजी की शारीरिक शक्ति कम हो रही थी। अतः व्हील चेयर पर ही मन्दिर जी अथवा आचार्यश्री के दर्शनों हेतु ले जाते थे, शारीरिक रूप से पिताजी शिथिल थे, किन्तु अपनी दिनचर्या और स्वीकृत व्रतों के प्रति वे पूर्णतः सावधान थे।

अतिथि संविभाग के प्रति पिताजी बहुत उत्साहित थे। प्रायः पूरे चातुर्मास काल में हमारे परिवार द्वारा चौका लगाया गया। दर्शन करके लौटने के पश्चात् पिताजी नियमित रूप से मुनि आहार का अवलोकन करते थे और उसकी अनुमोदन करने के पश्चात् ही स्वयं आहार ग्रहण करते थे।

चातुर्मास काल में कुछ ऐसे अवसर आये जब हमारे चौके में किसी महाव्रती का आहार नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में पिताजी का निर्देश था कि जिस चौके में किसी महाव्रती के आहार हो रहे हों उस चौके में अपने चौके से दूध या फल ले जाओ और पूज्य महाव्रती साधु को आहार देकर जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगों को सुनाया और बाह्य उपचार पर ही पुनः बल दिया।

रात्रि में पुनः गरम पानी में ताड़पीन का तेल डालकर रुई से सिकाई की तो पिताजी को काफी आराम हुआ। सुबह तो ऐसे लगा जैसे उन्हें कुछ हुआ ही न हो। उसके बाद उन्हें अन्त तक वातरोग सम्बन्धी कोई बाधा नहीं हुई।

हम लोगों को रात्रि में दो बजे, तीन बजे जगाकर भी समाधिमरण, वैराग्यभावना, बारह भावनाओं के टेप सुनते रहते, प्रातः फिर सामायिक तथा चिंतन करने बैठे रहते।

हम लोग आचार्य भक्ति के पश्चात् प्रायः सायंकाल छः बजे पिताजी के समाचार आचार्यश्री को देने जाते थे। एक शाम मैंने कहा– पिताजी की सेवा में व्यस्त रहने के कारण आपकी वैयावृत्ति नहीं कर पाते हैं। अतः आज वैयावृत्ति करने का अवसर दीजिये।

आचार्यश्री ने उत्तर दिया – अरे भैया! क्षपक की वैयावृत्ति कर रहे हैं आप। क्षपक को आहारदान दे रहे हैं। इससे श्रेष्ठ वैयावृत्ति एवं श्रेष्ठ दान और कोई है ही नहीं। आप लोग तो उत्कृष्ट लाभ ले रहे हो। अच्छी से अच्छी सेवा करो। आचार्यों ने तो क्षपक के दर्शन मात्र का महत्व वतलाते हुये लिखा है कि तीर्थयात्रा पर जा रहे हो और बीच में यह पता चल जाये कि किसी की समाधि हो रही है तो पहले क्षपक के दर्शन कर लेना।

कभी आचार्यश्री हँसकर कहते थे– हम तो आपको पूरा मौका दे रहे हैं, जबकि समाधि में प्रायः परिवार के लोगों को पास में नहीं रखते हैं। यहाँ तो आपको पूरा मौका मिल रहा है। किसी का कोई परिणाम बाधक नहीं हो रहा है। अतः सेवा करो।

पिताजी को प्रातःकाल जब आचार्यश्री के दर्शनों को ले जाते थे तो चर्चा में प्रायः दो तीन बातें हमेशा होती थीं–

"पण्डित जी आनन्द है?"

"हां, महाराज जी!"

"बहुत साहस का कार्य आपने किया है। बड़े–बड़े विद्वानों, मुनियों और आचार्य महाराजों तक की सल्लेखना नहीं हो पाई है। सतर्क रहियेगा, हर समय सावधानी रखे विकल्प न करें, सब ठीक होगा।"

आचार्यश्री हमेशा कहते थे–"जिसके अन्दर में सब कुछ तैयार है, उसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri.

अधिक सम्बोधन की आवश्यकता नहीं है। अच्छा दृढ़ परिणाम है। ऐसा ही चलने दो।''

एक दिन दोपहर की सामायिक के बाद 5/6 घंटे तक चुपचाप लेटे रहे आँख बंद किये। शाम हुई उठाया ''समायिक का समय हो गया''–अरे भइया ! उठा दिया, सामायिक ही तो कर रहा था– अच्छा अब बैठा दो– बैठकर कर लूंगा।

एक दिन पूज्य मुनिश्री 108 समाधिसागर जी महाराज ने संकेत किया कि पण्डित जी के सात प्रतिमा के व्रत तो पहले से ही हैं। अब यदि वे व्रतों को आगे बढ़ाना चाहें तो आचार्यश्री को उनकी इच्छा से अवगत कराओ। दशवीं प्रतिमा के व्रत लेने में कोई बाधा नहीं हैं। क्योंकि वर्तमान में वे उन सभी नियमों का सहज पालन कर रहे हैं। अतः सिर्फ व्रतों को ग्रहण करना है। मैंने शाम को सारी बात पिता जी से कही। दूसरे दिन जब प्रातः आचार्यश्री के दर्शन करने गये तो उन्होंने पूज्य श्री से निवेदन किया–

''महाराज! अब हमारी शारीरिक अवस्था ऐसी है कि हर कार्य पराश्रित है, इसलिए हमने जितने व्रत ग्रहण किये हैं, उन्हीं को निर्दोष पालने की शक्ति है। दशवीं प्रतिमा लेते हैं तो तीन दोष लगते हैं–

1. हम शौचालय में शौच को जाते हैं।
2. हमारे वस्त्रादि नल के पानी से धुलते हैं।
3. बिजली द्वारा संचालित टेप चलवा लेते हैं।

हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि नीचे के व्रत स्वीकार कर ऊपर के व्रत पालने में कोई दोष नहीं है, किन्तु ऊपर के व्रत लेकर दोष लगाना महा पाप का कारण है।

आचार्यश्री ने प्रसन्न मुद्रा में कहा–''बहुत अच्छा है।'' वे सातवीं प्रतिमा के व्रत अन्त तक निर्दोष पालते रहे।

शरीर ज्यों–ज्यों कृश होता गया, भावों की विशुद्धता उतनी ही अधिक बढ़ती गई। पर्यूषण पर्व बीत गया।

ज्वर का प्रकोप

इधर पिताजी को पिछले दिनों से ज्वर आ रहा था। अतः क्रमशः शरीर क्षीण हो गया और अन्न छूट गया। भोजन में छॉछ, लौकी और पपीता ही शेष रह गया।

शरीर शिथिलता की ओर दौड़ लगा रहा था और वे आत्मलीन होते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जा रहे थे। चेहरे पर वेदना की कोई रेखा तथा मुंह से कभी कोई शब्द-संकेत उस ताप को उजागर नहीं कर सके। हम लोगों को कुछ कह सकने, संबोधने का साहस नहीं हो पाता था परिणामों में अद्‌भुत समता थी। अत्यंत शांति एवं साहस के साथ वे ताप में तपते रहे- कहा कुछ नहीं पूछा एक दिन – वेदना होती हैं? कहा भैया – हम अपना काम कर रहे हैं शरीर अपना।

कक्ष परिवर्तन की तैयारी

1 अक्टूबर 95 रविवार को पिताजी बोले-"भैया! अब समय नहीं है। तालाब वाले कमरे में ले चलो। कब चलना है?" ऐसा पूछने पर स्पष्ट कहा- "अब समय ज्यादा नहीं है, अतः कल ही चलना है।" पारिवारिक जनों ने 2 अक्टूबर 95 सोमवार को प्रातः से शांति विधान करने का निश्चय किया। उस दिन पिताजी को मन्दिर ले जाने से पूर्व नाई को बुलाकर बाल बनवाये, शुद्धि कराई।

हीरा नाई को सम्बोधन

मन्दिर जाने की तैयारी चल ही रही थी। पिताजी से पूछा-"अब कोई और विकल्प तो नहीं है?" बोले-"हीरा नाई को बुला दो, उसे इनाम देना है। हम जब-जब कुण्डलपुर आये है, तब-तब उसने बड़ी सेवा की है।"

हीरा नाई को बुलवाया गया उन्होंने उसे इनाम स्वरूप पाँच रुपये दिये और सम्बोधते हुये कहा- "देख हीरा! बड़े बाबा की सेवा भी ऐसे ही निःस्वार्थ भाव से करते रहना। कभी अभाव नहीं होगा। तेरी पर्याय सुधर जायेगी।"

पिताजी को तैयार कर मन्दिर ले गये। डा. शिखरचन्द ने शांति विधान प्रारंभ कराया। वे पूरे विधान में मनोयोगपूर्वक बैठे। अर्घ चढ़ाते समय प्रत्येक बार द्रव्य की रकाबी का स्पर्श किया और हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर भगवान् की वन्दना की।

शरीर की निर्विकृति

मन्दिर से वापिस आकर पिताजी ने मध्याह्न की सामायिक की और भोजन किया। तत्पश्चात् उन्होंने शौच की इच्छा व्यक्त की। वह उनकी इस पर्याय का अन्तिम शौच था। पित्त जैसा थोड़ा सा विकार निकला। उसके बाद समाधि पूर्ण होने तक अन्तिम छह दिनों में शौच की बाधा नहीं हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधि सम्पन्न कराने की प्रार्थना

अब तक लगभग एक बज चुका था। हमने पूछा– "दूसरे कमरे में कब चलना है?" पिताजी ने उत्तर दिया–"अभी चलना है।" अतः सभी पारिवारिकजनों, रिश्तेदारों और जो अन्य श्रावक वहाँ उपस्थित थे, उन सबसे भी क्षमा याचना करते हुये वे आचार्यश्री के पास जाने लगे तो लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई और भीड़ ने एक जुलूस का रूप ले लिया।

जब आचार्यश्री के पास पहुँचे तो उन्होंने पूछा–"पण्डित जी! क्या बात है? सब कुशल तो है?"

पिताजी ने आचार्यश्री को श्रीफल चढ़ाते हुये कहा– हे आचार्यप्रवर! मैं इस प्रार्थना के साथ श्रीफल चढ़ाने आया हूँ कि आप समाधि की सम्पूर्ण विधि के साथ हमारी इस काया का उत्कर्ष करावें और समाधि की जो भी अन्तिम क्रियाएँ हैं, वे सब भी सम्पन्न कराने की अनुकम्पा करें।"

आचार्यश्री बोले–" बहुत अच्छा, ये तो बहुत अच्छा कार्य हुआ।"

क्षमायाचना

आचार्यश्री ने कहा–" पण्डित जी! सब लोगों से क्षमा याचना करनी है।" सबसे पहले भगवान् आदिनाथ के सामने क्षमा याचना करते हुए उन्होंने कायोत्सर्ग किया। तत्पश्चात् आचार्यश्री से क्षमा याचना करके कायोत्सर्ग किया। फिर उन्होंने उपस्थित सभी श्रावकों से क्षमा याचना की। श्रावकों ने भी उनसे क्षमा याचना की। उस समय वहाँ उपस्थित लोग भाव–विभोर थे और सभी के नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। किन्तु उन मुखर क्षणों के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था। कुछ और भी शेष था, जो शास्त्रों में पढ़ा और सुना तो था, देखा नहीं था।

आचार्यश्री बोले–" पण्डित जी! हमसे भी जीवन में कोई भूल हुई हो, उसकी क्षमा हम आपसे माँगते हैं। आप भी हमें क्षमा करें और हम भी आपको क्षमा करते हैं।"

आचार्य द्वारा श्रावक से क्षमा याचना और क्षमादान का कैसा अलौकिक दृश्य था। प्रत्यक्षदर्शी बनकर उस दृष्य को आत्मसात करने का अनुभव अद्वितीय था।

तदनन्तर पूरे संघ द्वारा कमरे में आकर भी क्षमा के आदान–प्रदान का क्रम चलता रहा। परिवार के सभी लोगों से अन्तिम बिदा लेकर वे दूसरे कक्ष में विराजमान हो गये।

पूरी रात विविध भावनाओं एवं स्तुतियों का टेप सुनते रहे। उसी दिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जबलपुर से क्षु.ध्यानसागर जी ने समाधिमरण पाठ की कैसेट अपनी आवाज में भरकर भिजवाई थी। उसे भी कई बार सुना तथा जहाँ–जहाँ विनतियों आदि में जिनेन्द्रदेव को वन्दना की गई, वहाँ–वहाँ हाथ जोड़कर बड़े बाबा एवं आचार्य श्री के चित्र की ओर जो हमेशा सामने रखा रहता था निहारते हुये भगवान की वन्दना की।

दूसरे दिन प्रातः साढ़े चार बजे थोड़ी सी निद्रा आई। पुनः प्रातःकालीन सामायिक की तथा अपने हाथ से अपनी नाड़ी देखी।

सामायिक के पश्चात् मैंने कहा–**"आज रात्रि भर सोये नहीं, दिन में बहुत थकान आयेगी।"** पिताजी बोले– **"हे भैया! बहुत सोया है जीवन में, अब अन्त में निद्रा नहीं लेना है। जाग्रत अवस्था में ही समय निकालना है।"** अन्तिम समय में भी उनकी सतर्कता का में प्रतिक्षण अनुभव कर रहा था।

आचार्यश्री ने इस नवीन कक्ष में रहकर आहारादि लेने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया था। निर्देश दिया था कि श्रावक के निवास पर जाकर ही आहार ग्रहण करना है। 3 अक्टूबर को प्रातः मन्दिर ले गये तो वहाँ पिताजी ने दर्शन कर द्रव्य द्वारा पूजन किया। तत्पश्चात् छाँछ एवं जल देने के लिए घर पर ले गये। पर ज्वर के बाद गले के नीचे पानी नहीं उतरता था।

दिन में 11 बजे गर्मी बढ़ गई, किन्तु वेदना न तो चेहरे पर अंकित हुई और न ही मुँह से आह निकली। गर्मी बढ़ने की सूचना आचार्यश्री को दी तो वे स्वयं कक्ष में आये और सामने बैठकर उपचार कराया। रीढ़ की हड्डी पर मिट्टी रखाई, लगातार एक घंटा उपचार करने के पश्चात् शान्ति मिली।

तत्पश्चात् ऐलक अभयसागर जी महाराज एवं अन्य ब्रह्मचारी भैया लोगों ने दोपहर की सामायिक पिताजी के साथ ही की।

विगत तीन चार दिनों से पिताजी के पेट में कुछ भी नहीं जा रहा था। यहाँ तक कि जल भी नहीं। जो भी लेते थे गले तक जाकर कफ के साथ वापिस आ जाता था। हाँ! लगातार गरम जल देने से तीन–चार दिन में गले में फँसा सारा कफ बाहर निकल गया और शरीर की सारी बाधायें समाप्त हो गई। न वात, न पित्त, न कफ, न ज्वर। पूरा शरीर विकार रहित हो गया।

इस कक्ष में भी दर्शनार्थियों की भीड़ बराबर बनी रही। अतः पिताजी ने कहा– कमरा बदलने से क्या फायदा हुआ, सब लोग यहां आ रहे हैं। कुछ बहिनें तो कमरे के भीतर भी आ जाती हैं। ऐसी व्यवस्था बनाओ कि कोई भी इस कमरे में न आवे। उस दिन से शेष समयों के लिए पिताजी के निर्देशानुसार ही व्यवस्था बनाई गई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस कक्ष में गर्मी अत्यधिक थी और शरीर में भी गर्मी बढ़ रही थी। अतः आचाँर्यश्री के निर्देशानुसार 5 अक्टूबर को उदासीन आश्रम के बगल वाले हाल में ले गये। यह स्थान अनुकूल था। दूसरे दिन सुबह वे बोले–"भैया! पड़गाओगे नहीं? आज भोजनों को नहीं कहोगे?

6 अक्टूबर शुक्रवार को उनका शरीर काफी शिथिल हो गया था। उस दिन जलादि देने की व्यवस्था उसी हाल में की गई पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और श्रावकों के निवास पर चलने को कहा। तदनुसार व्यवस्था भी की गई। किन्तु पानी गले से नीचे नहीं गया।

7 अक्टूबर शनिवार को प्रातः सात बजे तीन क्षुल्लक दीक्षाएँ हुई। उस दिन आचार्यश्री के निर्देशानुसार चादर की झोली बनाकर पिताजी को मन्दिर ले गये। आज भी द्रव्य पूजा करने बैठे, किन्तु हाथों में शक्ति कम होने के कारण वे द्रव्य का स्पर्श मात्र करके चढ़वा देते थे। यह पहला अवसर था जब पिताजी ने दूसरे के हाथों से द्रव्य चढ़वाई। किन्तु शान्ति एवं विसर्जन पाठ तक पूजन की पूरी विधि का उन्होंने अवलोकन किया। फिर आचार्यश्री के दर्शनार्थ गए।

इस समय पिताजी के शरीर पर मात्र एक वस्त्र था। व्हील चेयर के स्थान पर चादर की झोली थी। पिताजी ने आचार्यश्री को नमोऽस्तु करके चरण स्पर्श करने हेतु आगे हाथ बढ़ाया, किन्तु हाथ चरणों तक नहीं पहुँच सका। तब करुणानिधि आचार्यश्री ने आगे खिसककर पिताजी को अपना स्पर्श उपलब्ध कराया।

उस दिन चतुर्दशी थी। पिताजी ने आचार्यश्री से जल ग्रहण करने की अनुमति माँगी और अनुमति मिल गई, किन्तु जब उन्हें हाल में वापस लाये तो पिताजी ने जल नहीं लिया तथा उसके भी त्याग का संकेत कर दिया।

दिन में साढ़े ग्यारह बजे हम लोगों ने ऐसा अनुभव किया कि पिताजी की श्वांसप्रक्रिया में पहले की अपेक्षा कुछ अन्तर है। आचार्यश्री को इसकी सूचना दी तो आचार्यश्री ने तथा पूरे संघ के साधुओं ने वहीं उनके समीप बैठकर दोपहर की सामायिक सम्पन्न की।

सामायिक प्रारंभ करते समय ऐलक अभयसागर जी ने पिताजी को हाथ से अँगुली चलाने का संकेत किया तो उन्होंने अंगुलियाँ चलाकर दिखलाई।

सामायिक के पश्चात् पिताजी की तबियत सामान्य सी थी। अतः छोटे भाई विनोद ने कहा कि– कक्का जी! भोजन आपके पेट में जा नहीं रहा है। कपड़ा शरीर पर रुकता नहीं है। आचार्यश्री सामने बैठे हैं। कोई प्रक्रिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे बढ़ानी हो तो आप कह सकते हैं। पिताजी ने हाथ उठाकर स्पष्ट मना कर दिया।

आचार्यश्री बोले–" बहुत अच्छा, कोई नया विकल्प नहीं कराओ। परिणामों में बहुत उत्कृष्टता है। न विकल्प करो और न कराओ। पिच्छिका जब हाथ में होगी तभी परिणाम अच्छे होंगे, ऐसा जरूरी नहीं है। बात तो इस समय परिणामों की उत्कृष्टता की है और वे परिणाम उत्कृष्ट हैं। विकल्प न करो, ऐसा ही चलने दो।"

दोपहर पश्चात् शरीर और शिथिल हो गया, किन्तु शरीर पर मृत्यु से पूर्व होने वाले कोई चिह्न दिखलाई नहीं दे रहे थे। पिताजी ने पहले एक दिन कहा था कि– **"मैं बिना बतलाये नहीं जाऊँगा, विकल्प नहीं करना। मूर्च्छा में मरण नहीं होगा।"**

हुआ भी यही। पिताजी ने लगभग चार बजे तीन अंगुलियाँ उठाकर संकेत किया। जिससे हम लोग यह अनुमान न लगा सके कि अब तीन घंटे का समय शेष है।

शाम को 6.20 बजे पूज्य समाधिसागर जी महाराज आये और "सामायिक करना है", ऐसा पिताजी को संकेत किया। जिसकी उन्होंने स्वीकृति दी और माला हाथ में ली। करवट बदलवाने का संकेत किया तथा पुनः महाराज जी के चरणों का तीन बार स्पर्श किया।

6.30 पर महाराज जी ने पिताजी के सिर पर हाथ फेरते हुये तीन बार "ॐ" का उच्चारण किया। तत्पश्चात् सामायिक प्रारम्भ की।

जबलपुर वर्णी गुरुकुल के ब्र. त्रिलोकजी ने पिताजी के सिरहाने बैठकर उनके कान में बड़े बाबा का मन्त्र जपना प्रारम्भ किया।

6.45 पर चेहरे का तेज कुछ बढ़ा और जम्हाई सी आई। महाराज जी को ऐसा लगा कि अब अंत निकट है। हम लोगों को आचार्यश्री तथा संघ को बुलाने का निर्देश दिया और गद्दा हटवा दिया तथा शरीर पर पहिने हुये एकमात्र परिग्रह अधोवस्त्र को भी खींचकर हटा दिया। पंच परमेष्ठी का जोर–जोर से उच्चारण करना प्रारम्भ कर दिया।

7.00 पर पूज्य आचार्यश्री एवं अन्य साधक आ गये और पिताजी को पद्मासन में बैठाया। अभी नाड़ी चल रही थी और पंच परमेष्ठी का समवेत स्वर में उच्चारण भी। इसी बीच पिताजी ने आचार्यश्री की ओर अन्तिम दृष्टि डाली और पलक झपकते ही उनका महाप्रयाण हो गया।

इस समय भी पिताजी के चेहरे पर वेदना का कोई चिह्न दिखलाई नहीं दिया। उनकी धीरता, वीरता और प्रफुल्लता अन्त समय तक बनी रही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हम तो यही सोचकर आनन्दित हो रहे हैं कि जिन आचार्य परमेष्ठी की चरण रज की प्राप्ति की अभिलाषा से देश के दूर-दूर प्रांतों से अनेक श्रावक और व्रती आते हैं और उनकी चरण रज भी ठीक से नहीं मिल पाती है, ऐसे परम वीतरागी सन्त शिरोमणि आचार्य परमेष्ठी एंव पूरे संघ का आशीर्वाद और सान्निध्य जिसे मिला हो, जिसके पावन चरणों में बैठकर समाधिमरण प्राप्त किया हो, उसके पुण्य भण्डार की सीमा का आकलन करना कठिन है।

पिताजी की पर्याय धन्य हो गई, धन्य हो गया हमारा परिवार और वे समस्त स्नेहीजन, परिचित, अपरिचित भी धन्य हो गये जिन्होंने उस समाधिमरण को देखा उस की अनुमोदना की।

हमारी भी कामना है

''वोहिलाभो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।''

।।बड़े बाबा की जय।।

एक बार पण्डितजी कुछ दिनों के लिये बम्बई गये। वहाँ सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं. नाथूराम जी ''प्रेमी'' के साथ प्रतिदिन घूमने जाते थे। घूमते हुये दोनों विद्वानों में अनेक विषयों पर चर्चा होती थी। परस्पर तर्क-वितर्क के कारण चर्चा का अन्त नहीं हो पाता था।

एक अन्य सज्जन भी साथ में घूमने जाते थे। दोनों विद्वानों की प्रतिदिन की चर्चा को सुनते-सुनते एक दिन वे सज्जन बोले कि- *''आप लोग घूमने आते हैं या परस्पर लड़ने?''*

पण्डितजी के तर्कों एवं श्रद्धा के सामने प्रेमीजी ने नतमस्तक होकर कहा कि - *''आप अच्छे हैं, किसी एक पर श्रद्धान तो है, अत: आप टिक जाते हैं। हमने तो इतना पढ़ा है कि - एक की काट दूसरे से होती है और दूसरे की काट तीसरे से। अत: कभी न तो बात का अन्त होता है और न ही निष्कर्ष निकल पाता है।''*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मृतियों को प्रणाम

□ *सिं. जयकुमार जैन (अमरपाटन), सतना*

मेरे मन में आदरणीय पंडितजी की प्रथम स्मृति अमरपाटन में आयोजित सिद्धचक्र विधान महोत्सव के अवसर की है। दि. 4 से 11 नवम्बर 1962 तक इस महायज्ञ के आयोजक हमारे पूज्य दादाजी स्व.शिखरचन्द जी तथा पिताजी स्व. सिं. रतनचन्द जी ने आयोजन को सफल बनाने में कोई कोर कसर छोड़ी नहीं थी। पूज्य पंडितजी के आचार्यत्व में विधान महोत्सव पूर्ण विधि विधान पूर्वक और बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ था। यह वह समय था, जब थोड़े ही दिन पूर्व चीन ने भारत पर आक्रमण किया था। महोत्सव के शुभारंभ पर म.प्र. शासन में उपमंत्री श्री गोविन्दनारायण सिंह पधारे थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि, "इस समय हमारे देश के समक्ष जो चुनौती आ खड़ी हुई है, मैं उसकी ओर जैन समाज का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ और आपका सहयोग चाहता हूँ।" पंडितजी ने "जैन" शब्द की उस दिन जो व्याख्या की, उसे मैं आज भी भुला नहीं पाया हूँ। उन्होंने ओजस्वी शब्दों में घोषणा की कि, "जैनियों की अहिंसा कायरों की ढाल नहीं अपितु वह वीरों का अमोघ अस्त्र है. संकट की इस घड़ी में सम्पूर्ण जैन समाज तन, मन और धन से देश की रक्षा में अपना योगदान देने के लिये संकल्पित है।" उनकी ओजस्वी वाणी ने चमत्कार सा कर दिखाया। उपस्थित जन समुदाय में राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के लिये दान देने की होड़ सी लग गई। हमारे परिवार की ओर से भी 3 तोला सोना और 1501/– की राशि प्रदान की गई।

पूज्य पंडितजी के मृदुल स्वभाव और स्नेहमयी वाणी का प्रभाव गजब का था। उनके संपर्क में क्षण भर के लिये आने वाला जीवन भर के लिये मीठी यादें लिये वापस लौटता था। वे अजातशत्रु थे। थोड़े और सरल शब्दों में अपनी बात समझाने की उनमें प्रचुर कला थी.

लगभग 5–6 वर्ष पूर्व एक बार मैं अपनी माताजी के साथ उनसे मिलने गया था. माँ जी ने अन्य बातों के बीच में ही पारिवारिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परेशानियों की चर्चा करते हुये पंडितजी से उनके निवारणार्थ ग्रह शान्ति के लिये यंत्र-मंत्र आदि की जानकारी चाही. पंडितजी ने जो उत्तर दिया, उसे मैंने गाँठ में बाँध लिया। वे बोले, "सेठानी जी, तराजू के दो पल्ले होते हैं, जिस पल्ले को झुकाना हो उसका वजन बढ़ा दो. जब पुण्य कर्म क्षीण हो जाता है तो अशुभ कर्म (पाप) का पल्ला वजनदार हो जाता है और हम कहते हैं कि, हमारे ऊपर ग्रह दशा चल रही है। अरे! पुण्य के पल्ले में वजन बढ़ाओ, पाप का पल्ला अपने आप ऊपर उठ जायेगा। देवपूजा, गुरु उपासना आदि षट् आवश्यक जो श्रावकों के कर्तव्य हैं, निष्ठापूर्वक उनके पालन करने से ही पुण्य के पल्ले का वजन बढ़ता जायेगा और सारी परेशानियाँ दूर होती जायेंगी। कोई यंत्र, मंत्र, तंत्र या अनुष्ठान ऐसा नहीं जो पाप के पल्ले का वजन कम कर सकें।"

उनका व्यक्तित्व एक विराट् वट वृक्ष की भाँति था, जिसके आश्रय में आते ही समस्त शंकाओं का समाधान हो जाता था। जैन क्लब परिसंघ ने वर्ष 1989 में कुण्डलपुर जी में परमपूज्य आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में आयोजित अपने अष्टम वार्षिक अधिवेशन में पूज्य पंडितजी को "परम संरक्षक" के रूप में अलंकृत करते हुये उनकी सादर चरण वन्दना की ओर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया। उस अवसर पर पूज्य पंडितजी ने परिसंघ को अपना आशीर्वाद प्रदान करते हुये जो मार्गदर्शन दिया वह हम सबके लिये आज भी अमूल्य निधि के समान है।

जीवन भर जैन संस्कृति के गूढ़ रहस्यों की गुत्थियाँ सुलझाते और जिनामृत की बूंदों का पान कराते-कराते उन्होंने अपने अन्त काल को भी वैसी ही गरिमा/आभा प्रदान कर दी। बड़े बाबा के श्री चरणों तले परमपूज्य आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में उन्होंने अपनी पार्थिव यात्रा संपूर्ण की। जिनागम के उस तलस्पर्शी अध्येता को हार्दिक प्रणाम।

स्याद्वाद गंगा से लबालब भरे उस "अध्यात्म अमृत कलश" को सश्रद्ध नमन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधि के शिखर पर पण्डित जगन्मोहनलाल जी

❑ ब्र. त्रिलोक जैन, जबलपुर

इस वर्ष कुण्डलपुर के चातुर्मास में कुंवार शुक्ला चतुर्दशी की वह सांझ मेरे जीवन में सौभाग्य बनकर आई जब मेरे कदम सिद्धक्षेत्र के वर्धमान सरोवर पर स्थित भगवान बाहुबली के दर्शनोपरांत बड़ेबाबा की ओर न जाकर वापस उस कक्ष की ओर लौट पड़े जहां जैन जगत के लब्ध प्रतिष्ठित साधक विद्वान श्री जगन्मोहनलाल शास्त्री, आचार्य प्रवर विद्यासागर जी के शुभाशीष की पावन छांव तले अपनी जीवन साधना के शिखर पर समाधि के स्वर्ण कलश का आरोहण करने में संलग्न थे। मैंने देखा श्रद्धेय पंडितजी पूर्व की ओर मुख किये लेटे थे। समीप ही पूज्य मुनिश्री समाधिसागर जी आवर्त कर सामायिक के लिये बैठते हुए पंडितजी से पूछ रहे थे "शांति है", तभी मैंने अपना आसन भी पंडितजी के पास लगाया। मुनिश्री तो सामायिक करने लगे, पंडितजी का एक हाथ थोड़ा ऊपर उठा, मैंने समझा शायद जाप के लिए बोल रहें हैं, मैंने जाप देने के बजाय जाप सुनाना ज्यादा उचित समझा और उन्हीं द्वारा रचित मंत्र उन्हें सुनाना प्रारंभ कर दिया। उस समय पंडितजी के चेहरे के भाव देखते बनते थे। एक अपूर्व उत्साह था जैसे मंजिल प्राप्त हो गई हो। उसी समय विजय भैया ने पूछा "पंडितजी मंत्र सुन रहे हैं न ? पंडितजी का उत्तर आनंद देने वाला था। मैं तो मंत्रोच्चार कर रहा था पर पूज्य श्री समाधिसागर जी की अनुभवी आँखें संभावित भविष्य को जान गई। उन्हें समझ में आ गया कि हंसा अब जाने को है! पूज्य श्री ने अपना मौन तोड़ दिया और पंच नमस्कार मंत्र सुनाने लगे। इसी समय ऐलक श्री अभय सागर जी ने कक्ष में प्रवेश किया, मैं भी आचार्यश्री की ओर दौड़ा। आचार्यश्री ध्यानालीन थे। विजय भैया भी हाथ जोड़े खड़े थे। मैंने कहा "गुरुदेव अब समय नहीं है" तत्काल आचार्यश्री जमीन पर पीछी लगाते हुए मेरे साथ चल पड़े।

अब तक दोनों ओर के आंगन श्रावकों से भर गये थे। समस्त साधु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
संघ कक्ष में उपस्थित था। पंडितजी की अंतिम सांसें शेष थीं, जो मात्र आचार्यश्री का इंतजार कर रहीं थी। आचार्यश्री के मुख से महामंत्र उच्चारित हुआ और इस युग के सरस्वती के महान साधक ने आचार्यश्री के संघ सान्निध्य में, गुरुमुख से नमस्कार मंत्र सुनते हुए, महाप्रयाण किया। इससे बड़ा सौभाग्य क्या होगा ? मेरा तो मन करता था खुशी के गीत गाऊं और नाचूं, किंतु नाचने के लिए अपना मन मंदिर और हृदय का आंगन ही था। कुंडलपुर का आंगन तो समाधि की भावना भाने वाले सुधी श्रावकों और साधकों से भरा पड़ा था।

मेरी स्मृति में बार–बार वह दृश्य आ रहा था जो मुश्किल से 6–7 घंटे पूर्व मैंने देखा था। आज दोपहर को आचार्यश्री ने पंडितजी के समीप ही सामायिक की थी। पंडितजी के हाथ बार–बार आचार्यश्री के चरणों का स्पर्श कर रहे थे मानो उस स्पर्शानुभूति को सहेज कर रख लेना चाहते हों, वह दृश्य मुझे रोमांचित कर गया था।

प्रातःकाल होते–होते चारों ओर से जैन समाज उमड़ पड़ा। विदाई की इस अंतिम बेला में समझदार आंखों से भी आंसू ढुलक गये। रो तो सभी रहे थे कोई केवल हृदय से तो कोई आंखों और हृदय दोनों से। मैं, ब्र. विनोद जी और अभय जी के साथ विमान यात्रा को आगे बढ़ाने की तैयारी में था। यात्रा आगे बढ़ी, चंद कदम मैं भी साथ चला। बाद में अभय जी के संकेत पर मैं अंत्येष्टि स्थल की ओर बढ़ गया। वहां सैकड़ों लोग जमा थे। उन्होंने पहले से ही अपना स्थान सुरक्षित कर लिया था। दक्षिण की ओर बैठी ब्राह्मी गीताजी अपने आंसू रोक नहीं पा रहीं थीं। गीताजी ने पंडितजी की स्नेह छाया में काफी अध्ययन किया है अतः वियोग की पीड़ा स्वाभाविक थी।

भाई विजय और मैं दोनों गड्ढे में उतर गये। भाई अभय और विनोद जी ने चौक पहले से ही तैयार कर रखा था। पालकी भी पहुंच गयी थी। भीड़ बहुत थी। हर व्यक्ति चिता के पास रहना चाहता था पर सभी को यह सौभाग्य नहीं मिल सका। पंडितजी का पार्थिव शरीर अब लकड़ियों के बीच में था। पंडितजी के सुपुत्रों ने चिता को अग्नि दी। चिता जल उठी और लोग परिक्रमा करके लौटने लगे।

इस प्रकार पंडितजी का श्रेष्ठ जीवन जो कल तक वर्तमान था, आज इतिहास बन गया। संसार में हर वर्तमान को इतिहास बनना पड़ता है। जब यह निश्चित ही है तो क्यों न हम इतिहास बनने से पूर्व ही अपने वर्तमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को सजा संवार लें। हम अपने जीवन के अंधकार पूर्ण कमरे को त्याग की खिड़की खोलकर संयम से प्रकाशित कर ले। तभी जीवन में समाधि का संगीत गूंज सकेगा। समाधि के लिए आवश्यक है जीवन में समता की साधना और सबसे अधिक आवश्यक है जागृत आत्मबल। यह आत्मविश्वास, आत्मशक्ति पंडितजी के पास बहुत थी। आपने णमोकार मंत्र के प्रभाव से कई असाध्य कष्टों को दूर किया। पंडितजी के जीवन की कुछ घटनायें ऐसी हैं जो आश्चर्य में डाल देती हैं।

पंडितजी ने जिस बुनियाद पर, अपने साधनारत् जीवन के भव्य प्रसाद पर समाधि का स्वर्णकलश रखा वह आपकी सहजता, सरलता तथा विपरीत परिस्थितियों में साम्य भाव था। आप जब पिछले वर्ष वर्णी गुरुकुल में थे, मैं स्नान के पूर्व मालिश करने जाता था। किसी दिन लेट भी हो जाऊं तो भी पंडितजी सहज मुस्काते हुए कोई संस्मरण सुना देते थे जो अब मेरे पास अपूर्व निधि के रूप में सुरक्षित हैं।

पंडितजी ने एक बार बताया था कि वर्णी जी अक्सर उनसे कहा करते थे "भैया सुनो! हमने सप्तम प्रतिमा के व्रत तुम्हारे पिताजी गोकुल प्रसाद से लिये थे।" ईशरी में जब वर्णी जी समाधिस्थ हुए तब पंडितजी समय से नहीं पहुंच सके थे। जब पहुंचे तब तक वर्णी जी की काया अग्निसात हो चुकी थी। श्रद्धापूर्व भावों से युक्त पंडितजी समाधिस्थल गये, चुटकी भर राख माथे पर लगाई और सांसारिक भोगों से उदासीन रहने का संकल्प करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया।

इस संसार में देश एवं समाज के प्रति, परिवार के प्रति और अपने व्रत तथा कर्तव्यों के प्रति, सदा-सर्वकाल ईमानदार रहना, अपने आप में बहुत बड़ी साधना है। पंडितजी इस साधना के अनुपम साधक थे।

यदि पंडितजी की जीवन यात्रा के विविध पड़ावों पर दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि इन्हें बाल्यावस्था में ही मां के स्नेह से वंचित होना पड़ा। मझौली ग्राम में इन्होंने कक्षा दो तक शिक्षा प्राप्त की फिर कटनी के प्राथमिक स्कूल में प्रवेश लिया। इसके बाद मुरैना विद्यालय से विशारद तृतीय खंड की परीक्षा उत्तीर्ण की फिर बनारस विद्यालय से न्याय, व्याकरण एवं साहित्य का अध्ययन किया। वहां से वापस आकर कटनी विद्यालय में ही अध्यापन कार्य प्रारंभ कर दिया। इसी समय आपको स्याद्वाद विद्यालय काशी से अध्यापक पद के लिए आमंत्रण मिला। आपकी काशी जाने की रुचि भी थी पर आपके धर्मपिता सिंघई रतनचंद जी ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
आपको कटनी से जाने नहीं दिया। कालान्तर में आपने रुचिपूर्वक इसी विद्यालय में अध्यापन किया और कई छात्रों को विद्वान बनाया।

सन् 1920 में गांधीजी के असहयोग आंदोलन से जुड़े और संस्कृत की सरकारी परीक्षाओं का बहिष्कार किया। सन् 1922 में आप विवाह सूत्र में आबद्ध हुए और सद्‌गृहस्थ का जीवन जीते हुए निरंतर समाज सेवा में लगे रहे। सन् 1925 में आप जिला कांग्रेस के प्रतिनिधि बनकर कानपुर कांग्रेस में शामिल हुए तो 1938 में "परवार बंधु" के संपादक चुने गये। सन् 1947 से लगातार 25 वर्ष तक आप परवार सभा के प्रधानमंत्री रहे। सन् 1953 से लगातार 20 वर्षों तक भारत वर्षीय जैन संघ मथुरा के प्रधानमंत्री रहे। सन् 1955 में आपने जैन संदेश पत्र के संपादक पद को भी गरिमामंडित किया। आप वर्णी ग्रंथमाला के उपाध्यक्ष फिर अध्यक्ष भी रहे।

एक बार विन्ध्यप्रदेश के स्पीकर शिवानन्द जी ने कटनी में अपने भाषण में प्राचीन हिन्दु ऋषियों और जैन तीर्थंकरों को मांस सेवन करने वाला कहा तब श्रद्धेय पंडितजी ने अपनी वाग्मिता एवं सबल युक्तियों से स्पीकर महोदय को क्षमा मांगने एवं अपने शब्द वापस लेने पर मजबूर कर दिया था। इसी प्रकार सन् 1950 में अजमेर में आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में जब किसी वैदिक प्रतिनिधि ने जैनधर्म को नास्तिक कह दिया तो पंडितजी ने महावीर के महान सिद्धांत अनेकांत के धरातल पर खड़े होकर कहा–"**यदि मैं आपका वेद नहीं मानता इसीलिए नास्तिक हूं तो जैनों का मोक्षशास्त्र, ईसाइयों का बाइबिल और मुस्लिमों का कुरान शरीफ जो नहीं मानते वे भी नास्तिक कहलायेंगे।** इस विषय पर पंडितजी ने इतने अच्छे से प्रकाश डाला कि वहां उपस्थित विभिन्न धर्मावलंबी एकमत हो गये। पंडितजी ने कहा कि अस्तित्व में विश्वास रखने वाला आस्तिक है। प्रश्न यह है कि अस्तित्व किसका है? तो उत्तर है– स्वयं का और साथ में परमात्मा का, पुनर्जन्म, परलोक एवं कर्मफल का। इन पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति आस्तिक ही कहलायेगा और जैन मतावलंबी इन सब बातों पर विश्वास रखते हैं। पंडितजी के इस प्रवचन का जैन समुदाय पर इतना प्रभाव पड़ा कि वहां उपस्थित मौलवी साहब पंडितजी से दरगाह शरीफ पर प्रवचन करने का आग्रह करने लगे। पंडितजी ने कहा–"**यदि आप सुबह हमारे मंदिर आये तो शाम को हम अवश्य दरगाह शरीफ पर प्रवचन करेंगे।**" आश्चर्य कि मौलवी साहब सुबह मंदिर पहुंच गये। पंडितजी ने उन्हें अपने पास बैठाया और उस दिन प्रवचन में यशोधर मुनि पर राज श्रेणिक का उपसर्ग, चेलना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
द्वारा उसे दूर करना, फिर मुनि श्री द्वारा दोनों की समान रूप से आशीर्वाद देने वाली कथा सुनाई। मौलवी साहब सुनकर चकित रह गये। बोल उठे– ऐसा कैसे संभव है? इस पर पंडितजी ने कहा "इसी समभाव का नाम धर्म है। धर्म ही हमें मित्र–शत्रु, महल–शमशान और कांच–कंचन में समता रखने की प्रेरणा देता है। इस व्याख्या को सुनकर मौलवी साहब जैन साधु के दर्शन के लिए लालायित हो उठे। बाद में सरसेठ सोनीजी की अनुशंसा पर पंडितजी चार सौ श्रावकों के साथ दरगाह शरीफ पर प्रवचन करने गये। वहां 4–5 हजार का जनसमूह एकत्रित था। पंडितजी ने अपने वक्तव्य के माध्यम से राष्ट्रीय एकता, भाईचारा और अहिंसा के परिपालन संबंधी विस्तृत जानकारी देते हुए वहां उपस्थित, श्रोता समूह को मंत्र मुग्ध कर दिया। आपने खुदा की इबादत के संबंध में कहा कि जब खुदा ने मनुष्य और जानवर सभी को बनाया तब कैसे हम खुदा की बनाई दुनिया को तोड़ते हैं? पशुओं की हिंसा करते हैं? वास्तव में अहिंसा ही परम धर्म है।

इस व्याख्यान के विषय में डा. के.एल.जैन रायपुर ने अपने एक आलेख में लिखा है कि अजमेर में इस प्रवचन की चर्चा काफी दिनों तक रही। इसे अजमेर के दैनिक समाचार पत्रों "नवज्योति", "अमर भारत" तथा "दरबार अजमेर" ने मुख्य पृष्ठ पर प्राकशित किया। यह घटना पंडितजी की व्याख्यान शैली और प्रस्तुतिकरण के प्रभाव कां निरूपण करती है।

एक बाल सुलभ मनमोहक मुस्कान सदैव पंडितजी के अधरों पर खेला करती थी। आपकी मुख मुद्रा ने एक बार एक विरोधी का दिल भी जीत लिया था। आपके किरायेदार ने आप पर मुकदमा चलाया था। आप कोर्ट में पेशी पर उपस्थित थे। जब बारह बजे तो आप वहीं एक वृक्ष के नीचे सामायिक करने लगे। आपकी प्रशांत मुद्रा को जब विरोधी ने देखा तो सोचने लगा मैं भी किस धर्मात्मा को परेशान कर रहा हूं। पंडितजी सामायिक से उठे तो किरायेदार बोला–"पंडितजी मैं आपका मकान खाली कर देता हूं।"

वस्तुतः पंडितजी मात्र वक्ता ही नहीं अपितु उत्कृष्ट कोटि के साधक भी थे। इसी साधना के फलस्वरूप आपने अंतिम दिन भी प्रातःकाल समवशरण मंदिर में पूजन की थी। धर्म के संबंध में आपके विचार थे कि "धर्म के क्षेत्र में नये विचारों और सुधारों की कोई गुंजाइश नहीं है, पर उसके परिपालन में देश–काल व परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन संभव है।" शिक्षा के संदर्भ में आपका कहना था कि "नैतिक शिक्षा के बिना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छात्रों के जीवन में सुधार संभव नहीं है। नैतिकता को उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में भी आवश्यक माना है। वे कहते थे "नैतिकता प्रेरित राजनीति ही देश को महान कर सकती है।" इसी प्रकार वे मांस-मदिरा को राष्ट्रीय अभक्ष्य मानने के पक्षधर थे।

पूज्य पंडितजी ने "अध्यात्म अमृतकलश, आत्म प्रबोध तथा श्रावक धर्म प्रदीप" की टीकाकर जिनवाणी की महान सेवा की है। आपके जीवन में सर्वप्रथम दिगम्बर आचार्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य शान्तिसागर जी महाराज ने बहुत प्रभाव डाला।

एक बात और उल्लेख करने योग्य है। कटनी प्रवास के दौरान परमपूज्य गुरुदेव आचार्य विद्यासागर जी अपनी अत्यधिक शारीरिक अस्वस्थता के कारण समाधि हेतु विचार करने लगे थे, तब आपने ही अधिकारपूर्वक आचार्यश्री को रोका था और वैयावृत्ति आदि के द्वारा आचार्यश्री को निरोग करके संतोष की सांस ली थी। शायद इसी के परिणामस्वरूप आपको अपनी अंतिम यात्रा के समय आचार्यश्री का ससंघ सान्निध्य प्राप्त हुआ।

इस प्रकार पंडितजी का पूरा जीवन एक अनोखी दास्तान है जिसे लिखने के लिए हजारों पृष्ठ भी कम पड़ जायेंगे। आपके सुपुत्रों ने आपकी पर्याप्त सेवा सुश्रुषा की। उनकी अपने कर्तव्यों के प्रति यह जागरूकता संपूर्ण समाज के लिए अनुकरणीय है। मैं भी अपने जीवन को समाधि साधना की ओर बढ़ाता रहूं तथा सदैव अपने वयोवृद्ध गुरुजनों की सेवा करता रहूं इसी भावना के साथ विनम्र श्रद्धांजलि पंडितजी को अर्पित करता हूं।

एक बार साहू शान्ति प्रसाद जी की धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जैन ने पण्डितजी को अति आग्रहपूर्वक कुछ भेंट देनी चाही, किन्तु पण्डितजी ने भेंट लेने से मना कर दिया। फिर भी रमाजी नहीं मानीं और आने-जाने के मार्ग-व्यय स्वरूप पाँच सौ रुपये पण्डितजी की जेब में डाल दिये।

पण्डितजी वापिस कटनी आये और मार्गव्यय काटकर शेष राशि वापिस भेज दी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनयांजली

परमपूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर महाराज के सान्निध्य में सामायिक करते हुए देह का त्याग होना परम हर्ष की बात है। वे भाग्यवान थे। ऐसे पूज्य पिता के पुत्र होने से आप भी भाग्यवान है। दिगम्बर जैन समाज के एक मूर्धन्य विद्वान का लोप होना समाज के लिए एक अपूरणीय क्षति है।

कर्मयोगी स्वास्ति श्री चारुकीर्ति
भट्टारक स्वामी जी, श्रवण बेलगोला

*

उनके अध्यापन, प्रवचन तथा लेखन में अद्वितीय मौलिकता थी। जटिल विषय को भी वे सरल सुबोध और स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते थे। पं. जी समाज के यथार्थ मार्गदर्शक और अनेक संस्थाओं के मूर्तिमान चालक थे। उनमें बालक जैसी सरलता, न्यायाधीश जैसी न्यायबुद्धि, वक्ता जैसी वाक्पटुता, सिद्धान्तकार जैसी दृढ़ता एवं साहित्यकार जैसी संवेदनशीलता लक्षित होती थी..........। " श्रमण संस्कृति त्याग की संस्कृति है भोग की नहीं" इस सूक्ति वाक्य को उन्होंने अक्षरशः अपने जीवन में उतारा था।

स्वास्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति
पण्डिताचार्य स्वामी जी
मूड़बिद्री

*

पण्डितजी की जीवनी अनेक दृष्टि से कृतकृत्य और आदर्शरूप रही है। समाज के लिए उनके द्वारा महान उपकार हुए है– उनके पथ प्रदर्शन से अपन सभी को सन्मार्ग का लाभ बना रहे।

पं. ब्र. माणिक चन्द्र जी चवरे
(कारंजा)

*

आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी के सान्निध्य में मृत्यु महोत्सव पूर्वक जो देह का त्याग हुआ है वह अत्यंत प्रशंसनीय है। हम लोग भले ही राग के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कारण शोक करें किन्तु पं. जी ने जिस वीरतापूर्वक समाधिमरण किया वह उल्लेखनीय रहेगा– हमारी कामना है कि वे परम्परया निश्रेयस पद की प्राप्ति करें।

डॉ. दरवारीलाल कौठिया (वीना)

✲

पण्डितजी के प्रति मेरा गुरुतुल्य श्रद्धाभाव है। वे मेरे विद्यागुरु के सहाध्यायी रहे है। इन्होंने अपने पिताजी से चारित्र निष्ठा, गुरुणांगुरु वरैया जी से व्यवहार की प्रामाणिकता बड़े वर्णीजी से निस्पृहता और पं. देवकी नन्दन जी से सामाजिक कार्यों में निपुणता प्राप्त की।

डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य
वर्णी जैन गुरुकुल–मढ़िया (जबलपुर)

✲

1944 में वीर शासन जयंती महोत्सव के अवसर पर विद्वत् परिषद की स्थापना में आपका अमोघदान था। आपमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का सुमेल कांचन मणि संयोग है।

पं. नाथूराम शास्त्री संहितासूरि
(इन्दौर)

✲

पण्डितजी ने आदर्श श्रावक का जीवन और आदर्शमरण को प्राप्त किया। विद्वानों के लिए उन्होंने जीवन और मृत्यु दोनों से अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया।

मूलचंद्र लुहाड़िया
(मदनगंज किसनगढ़)

✲

पण्डितजी श्रावकाचार के सजीव संस्थान हैं। आत्मध्यान के हितकर चिंतक है। समाज के यर्थाथमार्ग दर्शक है। अनेक संस्थाओं के मूर्तिमान चालक है।

डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री
(नीमच)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे जैन सिद्धांत के मर्मज्ञ एवं निष्णात विद्वान होने के साथ ही समाज एवं धर्म के प्रति समर्पित सेवक थे। अनेक संस्थाओं के संस्थापक एवं संचालक होने के साथ व्रती एवं संयमी भी थे। वे निर्ग्रन्थ मुनिभक्त, अनेक कलाओं में निपुण, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के धनी होकर घर रह कर भी तपस्वी जीवन का अभ्यास करते रहे। अंत में सल्लेखना का इस युग में एक आदर्श रूप में पालन कर स्वर्गवासी हुए और हम सबकी श्रद्धा के पात्र बने। उन्हें शत् शत् प्रणाम।

पं. नाथूराम डोंगरीय
(इन्दौर)

*

पण्डितजी के सौभाग्य को क्या कहा जाये? जीवन भर तो सरस्वती की, अत्यंत निस्पृहता से साधना की, और अंत समय निर्वाण क्षेत्र पर इतनी समता से समाधि करने वाले पं. जी अद्वितीय महापुरुष हुये।

रतनलाल वैनाड़ा
(आगरा)

*

पण्डितजी हमारे देश के समाज के भूषण थे। विद्वतरत्नों में वे हमेशा जगमगाते रहे। पं. जी के तलस्पर्शी विद्वता के लाभ से आज हम सब वंचित हो रहे हैं।

वहन श्री सुमतिबाई शहा
(शोलापुर)

*

पू. पण्डितजी के जीवनकाल में हम लोग अपने को सुरक्षित महसूस करते थे क्योंकि कोई भी जटिल समस्या आती थी तो उसका सहज समाधान उनके पास रहता था। किन्तु अब? एक बड़ा भारी प्रश्न चिन्ह बन गया है।

डॉ राजाराम जैन
(आरा)

*

(9) मानव जीवन को कृतार्थ करने का यह पुनीतक्षण पू. पण्डितजी जैसी पुण्यआत्माएं ही प्राप्त कर सकती हैं। आप सब उनके वशंज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
गौरवशाली है, परम्परा से हम उनके शिष्य जन भी इस पुण्य के भागी है।

डॉ. प्रेमसुमन जैन
(उदयपुर)

*

सभी भव्य जीवों को ऐसी ही आदर्श मृत्यु महोत्सव की प्रेरणा उनके जीवन से मिले। उन पुण्यात्मा को वंदन करती हूँ।

प्रा. सौ. लीलावती जैन
(जलगांव)

*

इस प्रकार समाधिमरण भव्य जीवों के लिए भव काटने को सहायक है... पुरानी पीढ़ी के सैद्धान्तिक विद्वानों की निरंतर कमी होती जा रही है बड़े पण्डित जी के नाम से प्रसिद्ध यह स्मृति ही मात्र रही।

डॉ. शीतलचन्द्र जैन
(जयपुर)

*

परमश्रद्धेय पूज्य गुरुवर्य का यह ऐतिहासिक मरण कहा जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। वे ऐसे साधक थे जिनके विचारों और जीवन में कभी ऐसी रेखा नहीं उभरी जिनसे आत्मा का अहित हो सकता है। उसी का परिणाम है कि आचार्य श्री के सान्निध्य में उनका समाधिमरण हुआ। मैं उन महान आत्मा के चरणों में श्रद्धासुमन समर्पित करता हुआ अपने आपको धन्य मानता हूँ।

पं. सत्यंधरकुमार सेठी
(उज्जैन)

*

अमूल्य निधि के दातार, जिनवाणी के पारखी, पटु तथा ज्ञान के शिखर पुरुष, पं. जी को मेरी शत् सहस्रवार शाब्दिक श्रद्धाञ्जली समर्पित है।

डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया
(अलीगढ़)

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे समाज के प्रकाण्ड विद्वान थे। विद्वान ही नहीं वैरागी भी थे...ऐसा उनके सल्लेखना पूर्वक निधन से स्पष्ट हो गया है। उन्होंने ग्रन्थों को अपने ऊपर बोझ नहीं बनने दिया, उन्हें आत्मसात भी किया जिसका परिणाम था सल्लेखना।

आज जैन समाज एक ऐसे रत्न से महरूम हो गया है जो कभी उसे मिला था। वे ठोस विद्वानों की पुरानी परम्परा के स्तंभ थे। अब वैसा कोई नहीं है। ठोसपन का यह अभाव अब भरा जाना मुश्किल है।

डॉ. प्रेमसागर जैन
(बड़ौत)

* * *

पू. पण्डितजी ने विदिशा के सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र जी को गजरथ न चला कर धवलादि ग्रन्थों का सुझाव दिया था। इससे जिनवाणी की अनुपम सेवा हुई।

पं. हीरालाल कौशल
(देहली)

*

पू. पण्डितजी भारतवर्ष के मूर्धन्य विद्वान थे जो जिंदगी पर तो विजयी रहे, मृत्यु पर भी विजयी रहे। वे मृत्युंजय बन गये............ इच्छा मृत्यु का वरण करके वे भीष्मपितामह बन गये।

डॉ. शेखरचन्द जैन
(अहमदाबाद)

*

पू. पण्डितजी के निधन से जैन समाज और साहित्य की अपूर्णनीय क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होना अति दुर्लभ है। शिक्षा के क्षेत्र में पं. जी का अपूर्व योगदान भुलाया नहीं जा सकता है। सचमुच वे निश्चय व्यवहार का मेल कराने में सदैव समर्थ रहे। आप जिनागम के सिद्धांतों को अत्यंत दृढ़तापूर्वक समझाने में महान कुशल थे। उनका अन्तिम समय अपने मानव जीवन को सार्थक बनाते हुये समाधिमरण पूर्वक इस नश्वर देह का त्याग किया जो बड़े बड़े त्यागियों को भी दुर्लभ है।

रतनलाल सोगानी
(मुमुक्ष मंडल भोपाल)

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धेय पं. जी ने अपने जीवन में जैनधर्म के व्यापक प्रचार प्रसार के लिए जो महान अवदान दिया, वह जैन इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जायगा।

साहू शरदकुमार
(बंबई)

✲

उनकी आंतरिक भावना थी कि आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी के चरण सान्निध्य में ही समाधिपूर्वक देह त्याग की जाये। उस की उनको सतिशय पुण्योदय से लक्ष्य की सिद्धि की।

पं. राजमल
(भोपाल)

✲

श्रद्धेय पं. जी के निधन से जैन दर्शन का दैदीप्यिमान नक्षत्र अस्त हो गया, जिसकी पूर्ति होना असंभव है।

श्री डालचंद्र जैन (पूर्वसांसद)
सागर

✲

जैन जगत के मूर्धन्य विद्वान, अध्यात्म जगत के चिंतक, चारित्र जगत के त्यागी का सल्लेखना धारणकर आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी के चरणों के सान्निध्य में सामायिक करते हुए समाधि पूर्वक देह त्याग स्वयं में एक महोत्सव है।

रामजीत एडवोकेट
(लश्कर–ग्वालियर)

✲

उन्होंने तो अपनी मृत्यु को भी महोत्सव बना दिया। यह सौभाग्य भी किसी विरले पुरुष को ही प्राप्त हो सकता है। ....प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित किया है और धार्मिक आस्थाओं को सुदृढ़ बनाया है।

साहु रमेशचन्द्र जैन
(टाइम्स आफ इंडिया, देहली)

✲

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सल्लेखना पूर्वक सामायिक काल में देहावसान होना एक महान अतिशय पुण्य का उदय है...शास्त्री जी वैमानिक देव तो हुए ही है और सीमंधर की तीर्थंकरो दिव्य ध्वनि भी उन्होंने सुन ही ली होगी। सम्पूर्ण जीवन चारों अनुयोगों का स्वाध्याय, तत्व प्रचार प्रसार में लगाया वह अनुकरणीय है।

बाबूलाल इंजीनियर
(छावनी कोटा)

✲

उनके देहावसान से पूर्ण जैन समाज ने एक संबल एवं अभूतपूर्व चिंतक खो दिया है।

पी सी जैन, वाइस प्रेसीडेंट–सेन्चुरी सीमेंट
(बैकुंठपुर)

✲

जैनधर्म, आगम, धर्मतत्व उन्होंने सिर्फ पढ़े और पढ़ाये नहीं तो प्रत्यक्ष आचरण में भी उसी तरीके रखकर वांचा और कृति दोनों का निरंतर अन्तर मिटाते रहे जो विशेषता महान् आत्माओं को होती है।

प्रो. के.डी. मिश्रीकोटकर
चांदर बाजार (अमरावती)

✲

समाधिपूर्वक देह त्यागना, मृत्यु का महोत्सव भव्य जीव के पुरुषार्थ का द्योतक है, मृत्यु जीवन शाश्वत सत्य है लेकिन मृत्यु जब उत्सव बन जाये तो संपूर्ण जगत करुणा भाव को धारण कर शांति धारा के प्रवाह में असीम सुख को प्राप्त करता है।

वीर नीलम जैन
(अशोक नगर)

✲

वर्तमान 20 वीं शताब्दी का महान चारित्रोन्मुखी विद्वान का अभाव हो गया। वह हम सबके गुरुणांगुरु थे।

पं. विमलकुमार सौंरया
(टीकमगढ़)

✲

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जग के मोहन जगमोहनजी आप गये इस जग को छोड़ .....

....

धार्मिकता, सामाजिक अनुभव, गये आप सब लेकर साथ,
ऐ पुण्यात्मा नमन करें हम, गीली आँख झुकाये माथ,

ठाकुर लाखनसिंह सोलंकी
(स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी)
(पूर्व विधायक–कटनी)

*

तुम्हें प्रणाम

"शांत चित्त गभीर प्रवृत्ति।
दत्तचित्त अध्ययनमय वृत्ति।।1।।
श्रुतसेवा में जीवन अर्पण।
विद्यागुरु को किया समर्पण।।2।।
जप तप संयम पालनकर्त्ता।
गहन अध्येता उत्कृष्ट वक्ता।।3।।
अधुनातन भी यश से विराजे।
ज्ञान गुणोदधि गरिमा लाजै।।4।।
अन्तिम क्षण जीवन जिन बीते।
सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर गही जै।।5।।
क्वांर सुदी चौदस शुभ दिन को।
किया गमन तिन स्वर्गपुरी को।।6।।
धन्य हुआ जिन जीवन पावन।
सौम्यमूर्ति जिन रहे सुभावन।।7।।
जगन्मोहनलाल जी तुम्हें प्रणाम।
मैं भी पाऊँ सुख अविराम।।8।।

पवन कुमार शास्त्री "दीवान"
श्री गोपाल दि. जैन सि. संस्कृत विद्यालय,
(मुरैना)

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन साहित्याकाश में यश कीर्ति प्राई आपने।
वक्तता लेखन मनन सत्संग पाया आपने।।
अंत कितना शुभ हुवा बड़े बाबा (कुंडलपुरी) के धाम में।
आचार्य श्री विद्यासागर, मिले सल्लेखना के काम में।।
है सुनिश्चित देव होकर फिर मनुज तन -पाओगे।
तभी केवललब्धि ले फिर मुक्ति लक्ष्मी पाओगे।।
हो जहां नित प्रति हमारा मिले तुमको सन्नमन।
हमें भी सल्लेखना का प्राप्त होवे अनुगमन।।

वैद्य गुलाबचन्द्र जैन
(ढाना)

*

शुभ कामना हमारी है

गंग की धार बहै जवलों भुवि,
सूरज चन्द अकाश मझारी।
रामकथा जवलौं महिमण्डल,
धर्म रहै जबलौं, सुखकारी।।
देश शिरोमणि भारत कौ,
जबलौं रहै नाम दिगन्त प्रचारी।
कीरति तौलों बढ़ै "कमलाकर"
श्री जगन्मोहनलाल तहारी।।

भवदीय
आपके सद्व्यवहार, व्रतों में निष्ठा, गंभीर ज्ञान,
उज्जवल चरित्र, सरलता आदि अनेक अवर्णनीय गुणों से
विशेष प्रभावित....एक क्षुद्र व्यक्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पारिवारिक श्रद्धांजली

सन् 1947 में बड़े पंडितजी की बड़ी बहू बनकर मेरा इस परिवार में प्रवेश हुआ। बचपन से पिता की छाया रहित होने पर मैंने पूज्य पिताजी को इस परिवार में पाकर अत्यंत सुख का अनुभव किया।

सन् 1948 में पूज्य पिताजी के साथ बैलगाड़ी पर कुण्डलपुर की यात्रा की। यह उनके साथ पहली यात्रा थी और देखते देखते 47 साल बीत गए जब उन्होंने उसी कुंडलपुर में अपने दीर्घ व्रती जीवन के अंत समय समाधिपूर्वक आचार्य श्री के सान्निध्य में शरीर को त्यागा। इस काल चक्र में हमें बहुत कम समय पिताजी का सान्निध्य प्राप्त हुआ।

सन् 1950 से 1975 तक सतना, शहडोल, कलकत्ता, जयपुर, दिल्ली, चंडीगढ़, अहमदाबाद और वापिस सतना इतनी जगह हमने अपनी गृहस्थी को ढोया है। हर जगह जहाँ भी हम जाते वहाँ निवास के नजदीक मन्दिर व कुंआ पहले देखते। हर स्थान पर हमें उनका सान्निध्य प्राप्त होता रहा है और जीवन में उनके आदेश, उपदेश और व्यवहार से हमारा अनगढ़ जीवन सुधरता रहा है। उनका बेटी जैसा स्नेह हम पर हमेशा बरसता रहा है। उनके आदेश से हम सतना में गृह चैत्यालय बनाकर धन्य है कि उन्होंने इस जीवन में तो संस्कार दिए ही पर जीवन के उस पार और आगामी पीढ़ी को धार्मिक संस्कार साधन का यह माध्यम भी उपहार में दिया। उनके प्रति मैं और परिवार के सभी बड़े छोटे अत्यंत विनम्र भाव से श्रद्धापूर्वक स्मरण करते रहेंगे।

संतोष रानी (पुत्रवधू)

*

पूज्य पिताजी का सान्निध्य मेरे सौभाग्य से कटनी में ही रहने के कारण सदा प्राप्त होता रहा है और मैंने अपने इस परिवार की परंपरा को अपनी मां (सास) के साथ रहकर देखा, जाना और सीखा। विगत 60-65 वर्षों से मैं जानती हूं कि इस घर में शुद्धता पूर्वक भोजन बन रहा है और उस चौके की मर्यादा को मैंने प्रसन्नता, दृढ़ता से स्वीकार किया और निर्वाह किया। इससे मेरे मन में और परिवार के अन्य लोगों में सुचिता की भावना जाग्रत हुई है।

उनके सान्निध्य में हमने धार्मिक ज्ञान भी प्राप्त किया और अपने आचार, विचारों में व्रती जीवन जीने की चाह भी प्राप्त की है। उनकी सेवा का सौभाग्य भी निरंतर प्राप्त होता रहा है और तीर्थों की वंदना का सुयोग मिलता रहा है इससे मैं अपने आपको बहुत पुण्यशाली समझती हूँ।

उनकी चारित्रिक दृढ़ता ने दुर्बल और क्षीण शरीर होते हुए भी व्रतों में कोई अतिचार नहीं लगने दिया। गृहस्थावस्था में उत्कृष्ट समाधि प्राप्त की हमारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
भावना है कि हम भी उनके चरण चिन्हों पर चलें।

मनता रानी (पुत्र वधू)

*

परम पूज्य बब्बाजी का स्मरण करने मात्र से मन में बहुत शांति मिलती है। उनकी विलक्षण स्मरण शक्ति व सरस्वती कृपा मन को बहुत प्रभावित करती थी। प्रतिकूल परिस्थिति में सुखी रहकर तथा धर्म को सीधे जीवन से जोड़कर अपना जीवन सार्थक कर लिया तथा समाधि द्वारा अपना अगले जन्म को सुखी बना लिया। यह मार्ग दर्शन समय-समय पर हमारे जीवन के लिए प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे। ऐसे महामहिम परम बब्बाजी को अनन्तशः प्रणाम

श्रीमति मंजु जैन (पौत्र वधु)

*

पूज्य बब्बाजी जब सतना आते थे तब घर में सभी लोग बहुत अनुशासित रहते थे।मैंने उनसे संस्कृत का ज्ञान भी लिया है, और मुझे संस्कृत में अच्छे नंबर मिलते थे। मैं तो अत्यंत सौभाग्यशाली हूँ। अपने पापा, बापा और पूज्य बब्बाजी के साथ मैंने अपने चैत्यालय में पूजन किया है, और मुनि महाराज को पड़गाया भी हैं।कुंडलपुर में बड़े बाबा के दर्शन भी साथ में किए हैं और आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज के इस चार पीढ़ी ने एक साथ वंदना की।ऐसे सौभाग्य को प्राप्त कर मैं अपने को धन्य मानता हूँ। मेरे बापा के (श्री अमरचंद्र) भी बापा स्व. गोकुलप्रसाद जी ने घर छोड़कर व्रती जीवन अंगीकार किया था और अब देख रहा हूँ कि बापा भी (अमर चंद्रजी) बब्बाजी के चरण चिन्हों पर चलने का प्रयास कर रहे हैं।

मैं तो समझता हूँ कि मेरे पापा (आमोदकुमार) भी इसी मार्ग को अपनाएगें और मैं स्वयं क्या कहूँ ? अभी इतनी समझ और बुद्धि नहीं है पर ऐसा विश्वास है कि मनुष्य जीवन की सफलता व्रत धारण कर समाधिमरण में ही है। जैसा कि परमपूज्य बब्बाजी (जगन्मोहनलाल जी) ने किया। उनकी उस पुण्य छाया में हम सब अत्यंत संतोष और सुख का अनुभव करते है। मेरी शत् शत् चरण बंदना।

अभिजीत जैन (प्रपौत्र) कक्षा 12

*

श्री पण्डितजी के समाधिकाल में साक्षी हम जैसे अनेकानेक लोगों को प्रेरणा मिली है, जीवन में परिवर्तन आया है। मेरे स्मरण में अभी तक किसी विद्वान की ऐसी उत्कृष्ट समाधि नहीं हुई। यह सब पं. जी के त्याग व दीर्घ साधना का सुफल है।

मेरा आंतरिक प्रणाम उस महामानव को।

विष्णुकुमार जैन, (दामाद) गंजबासौदा

45.37 3-8-99

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

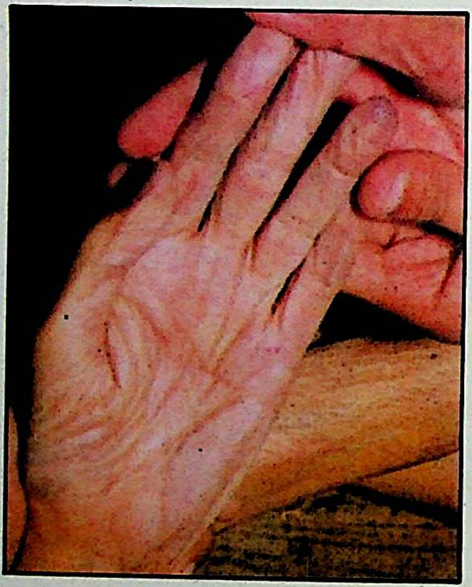

मुद्रकः सिंघई ऑफसेट, 669, सराफ़ा बाजार, जबलपुर फोन– 341006

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi